॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेद भाष्यम् ।

दशमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharv 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७८ वि० सन् १९२१ ई० } मूल्यम् २ ।)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

॥ ओ३म् ॥

"[वेद सब सत्य] विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना [और सुन]ना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महान्यूनता को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं. एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे. महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०		पृष्ठ २,६०। लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)		२०)

काण्ड ११ छप रहा है। कांड १२ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

१५ सितम्बर १९१७।

पता—पं० क्षेमकरणदासत्रिवेदी

५२, लूकरगंज, प्रयाग।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड १० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	यां कल्पयन्ति वहतौ	कृत्यादूषण	राजा का कर्त्तव्य दण्ड	निचृद् महाबृहती आदि
२	केन पार्ष्णी आभृते	प्रजापति वा ब्रह्म	मनुष्य शरीर की महिमा	त्रिष्टुप् आदि
३	अयं मे वरणो मणिः	वरण	सब सम्पत्ति पाना	अनुष्टुप् आदि
४	इन्द्रस्य प्रथमो रथो	इन्द्र, वा प्रजापति	दोषों का नाश	पथ्या पङ्क्ति आदि
५ (१)	इन्द्रस्यौज स्थेन्द्र १-२४	आपः	विद्वानों का कर्त्तव्य	आर्षी पङ्क्ति आदि
(२)	विष्णोः क्रमोऽसि २५-३६	विष्णु	विद्वानों का कर्त्तव्य	शक्वरी आदि
(३)	सूर्यस्यावृत ३७-४१	मन्त्रोक्त	विद्वानों का कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
(४)	यं वयं मृगयामहे ४२-५०	प्रजापति	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप् आदि
६	अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य	बृहस्पति आदि	सब कामनाओं की सिद्धि	गायत्री आदि
७	कस्मिन्नङ्गे तपो	स्कम्भ ब्रह्म	ब्रह्म के स्वरूप का विचार	जगती आदि
८	यो भूतं च भव्यं च	आत्मा	परमात्मा और जीवात्मा	उपरिष्टाद् विराड् बृहती आदि
९	अघायतामपि नह्या	शतौदना	वेदवाणी की महिमा	भुरिक्त्रिष्टुप् आदि
१०	नमस्ते जायमानायै	वशा	ईश्वर शक्ति की महिमा	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद काण्ड १० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १०) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	द्वादश प्रधयश्चक्र	८ । ४	१ । १६४ । ४८		
२	प्रजापतिश्चरति गर्भे	८ । १३		३१ । १९	
३	निवेशनः संगमनो	८ । ४२	१० । १३९ । ३	१२ । ६६	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

दशमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—३२ ॥ कृत्यादूषणं देवता ॥ १ निचृद् महाबृहती; २ त्रिपाद् विराड् गायत्री; ३, ५—८, १०, ११, १४, २१, २६, २७, ३०, ३१ अनुष्टुप ; ४ निचृदनुष्टुप् ; ९ पथ्या पङ्क्तिः; १२ अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप् ; १३, २५ उरोबृहती; १५ ,१९ जगती; १६, १८ त्रिष्टुप् ; १७ भूरिक् प्रस्तारपङ्क्तिः ; २०, २४ प्रस्तारपङ्क्तिः ; २२ साम्नी त्रिष्टुप् ; २३ स्वराड् गायत्री, २८ गायत्री, २९ ज्योतिष्मती जगती, ३२ अतिजगती ॥

राजकर्त्तव्यदण्डोपदेशः—राजा के कर्तव्य दण्ड का उपदेश ॥

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः । साराद् एत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥

याम् । कल्पयन्ति । वहतौ । वधूम्-इव । विश्व-रूपाम् । हस्त-कृताम् । चिकित्सवः ॥ सा । आरात् । एतु । अप । नुदामः । एनाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (विश्वरूपाम्) अनेक रूप वाली, (हस्तकृताम्) हाथों से की हुई [हिंसा क्रिया] को (चिकित्सवः) संशय करने वाले

१—(याम्) कृत्याम् । हिंसाक्रियाम (कल्पयन्ति) रचयन्ति । संस्कुर्वन्ति (वहतौ) अ० ३ । ३१ । ५ । वह—अतु । विवाहे (वधूम) अ० १ । १ । २ ।

लोग (कल्पयन्ति) बनाते हैं, (इव) जैसे (वधूम्) वधू को (वहतौ) विवाह में। (सा) वह (आरात्) दूर (एतु) चली जावे, (एनाम्) इसको (अप-नुदामः) हम हटाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य छल करके देखने में सुखद और भीतर से दुःख-दायी काम करें, राजा उसका यथावत् प्रतीकार करे ॥ १ ॥

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥

शीर्षण्-वती । नस्वती । कर्णिनी । कृत्या-कृता । सम्-भृता ।
विश्व-रूपा ॥ सा । आरात् । एतु । अप । नुदामः। एनाम् ।२।

भाषार्थ—(शीर्षण्वती) शिर सम्बन्धी, (नस्वती) नाक सम्बन्धी, (कर्णिनी) कान सम्बन्धी [जो हिंसा क्रिया] (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले पुरुष द्वारा (संभृता) साधी गई (विश्वरूपा) अनेक रूप वाली है। (सा) वह (आरात्) दूर (एतु) चली जावे, (एनाम्) इसको (अप नुदामः) हम हटाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा के शरीरों को कष्ट देनेवाले उत्पातियों को यथावत् दण्ड दिया जावे ॥ २ ॥

नवोढां जायाम् (इव) यथा (विश्वरूपाम्) अनेकविधाम् (हस्तकृताम्) हस्तेन निष्पादिताम् (चिकित्सवः) कित संशये रोगापनयने च—स्वार्थे सन्, उप्रत्ययः। संशयशीलाः (सा) हिंसाक्रिया (आरात्) दूरे (एतु) गच्छतु (अप नुदामः) दूरे प्रेरयामः (एनाम्) हिंसाक्रियाम् ॥

२—(शीर्षण्वती) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ९४ । शिरः सम्बन्धिनी (नस्वती) नासासम्बन्धिनी (कर्णिनी) श्रोत्रसंबन्धिनी हिंसा (कृत्याकृता) अ० ४ । ९ । ५ । कृञ् हिंसायाम्—क्यप्, तुक् + डुकृञ् करणे—क्विप्, तुक्। हिंसाकारकेण (संभृता) निष्पादिता (विश्वरूपा) अनेकविधा। इतरत् पूर्ववत् –म०१ ॥

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता । जाया पत्यां नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

शूद्र-कृता । राज-कृता । स्त्री-कृता । ब्रह्म-भिः । कृता ॥ जाया । पत्या । नुत्ता-इंव । कर्तारम् । बन्धु । ऋच्छतु ॥३॥

भाषार्थ—(शूद्रकृता) शूद्रों के लिये की हुई, (राजकृता) राजाओं के लिये की हुई, (स्त्रीकृता) स्त्रियों के लिये की हुई, (ब्रह्मभिः=ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणों के लिये (कृता) की हुई [हिंसा क्रिया] (कर्तारम्) हिंसक पुरुष को (बन्धु) बन्धन समान (ऋच्छतु) चली जावे, (इव) जैसे (पत्या) पति करके (नुत्ता) दूर की गई (जाया) पत्नी ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो दुष्कर्मी शूद्र, क्षत्रिय, स्त्री और विद्वानों पर अत्याचार करें, राजा उनको इस प्रकार बन्धन में करे,जैसे पति से निकाली गयी व्यभिचारिणी स्त्री बन्धन में की जाती है ॥ ३ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ॥ याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधि रूप [तापनाशक तुझ राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अदूदुषम्)

३-(शूद्रकृता)शूद्राथ कृता (राजकृता) राजभ्यो निष्पादिता (स्त्रीकृता) स्त्रीभ्यः साधिता (ब्रह्मभिः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । चतुर्थ्यर्थे तृतीया । ब्रह्मभ्यः वेदज्ञानिभ्यः (कृता) (जाया) दुष्टा भार्या (पत्या) स्वामिना (नुत्ता) दूरीकृता (इव) यथा (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्—तृच् । हिंसकम् (बन्धु) बन्धनं यथा (ऋच्छतु) गच्छतु ॥

४—(कृत्याः) कृञ् हिंसायाम्-क्यप् तुक् च । हिंसाः । अन्यद् व्याख्यातम् अ० ४ । १८ । ५ ॥

खण्डित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गौओं में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राजपुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ४ । १८ । ५ ॥

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते । प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

अघम् । अस्तु । अघ-कृते । शपथः । शपथि-यते ॥ प्रत्यक् । प्रति-प्रहिण्मः । यथा । कृत्या-कृतम् । हनत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अघम्) बुराई (अघकृते) बुराई करने वाले को और (शपथः) शाप (शपथीयते) शाप करने वाले को (अस्तु) होवे । [उस दुष्ट कर्म को] (प्रत्यक्) पीछे की ओर (प्रतिप्रहिण्मः) हम हटा देते हैं (यथा) जिस से [वह दुष्ट कर्म] (कृत्याकृतम्) हिंसा करने वाले को (हनत्) मारे ॥ ५ ॥

भावार्थ—दुष्कर्मी कटुभाषी दुष्ट को यथानीति दण्ड दिया जावे ॥ ५ ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः । प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

प्रतीचीनः । आङ्गिरसः । अधि-अक्षः । नः । पुरः-हितः ॥ प्रतीचीः । कृत्याः । आ-कृत्य । अमून् । कृत्या-कृतः । जहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलने वाला, (आङ्गिरसः) वेदों का जानने वाला (नः) हमारा (अध्यक्षः) अध्यक्ष और (पुरोहितः) पुरोहित

५—(अघम्) पापम् (अस्तु) (अघकृते) पापकारिणे (शपथः) शापः । दुर्वचनम् (शपथीयते) शपथ—क्यच्, शतृ । शापकारिणे (प्रत्यक्) प्रतिकूलं गमनम् (प्रतिप्रहिण्मः) हि गतिवृद्ध्योः । प्रतिकूलं गमयामः (यथा) येनप्रकारेण (कृत्याकृतम्) हिंसाकारिणम् (हनत्) हन्यात् ॥

६—(प्रतीचीनः) अ० ४ । ३२ । ६ । प्रत्यक्षं गच्छन् (आङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इत्यण् । अङ्गिरसां वेदानां ज्ञाता

[अग्रगामी] तू (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूलगति (आकृत्य) सर्वथा करके (अमून्) उन (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) मार डाल ॥६॥

भावार्थ—वेद ज्ञाता नीतिनिपुण पुरुष दुराचारियों को यथावत् अनुसन्धान करके दण्ड देवे ॥ ६ ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् । तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । उवाच । परा । इहि । इति । प्रति-कूलम् । उत्-आय्यम् ॥ तम् । कृत्ये । अभि-निवर्तस्व । मा । अस्मान् । इच्छः । अनागसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [दुष्ट] ने (त्वा) तुझ से (उवाच)कहा–"(उदाय्यम्) उदय को प्राप्त हुये (प्रतिकूलम्) विरुद्ध पक्षवाले शत्रु को (परा इहि इति) जाकर प्राप्त हो "। (कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (तम्) उसकी ओर (अभिनिवर्तस्व) लौटकर जा, (अस्मान्) हम (अनागसः) निर्दोषियों को (मा इच्छः) मत चाह ॥ ७ ॥

भावार्थ--जो दुष्ट जन धर्मात्माओं को शत्रु जान कर सतावें, उन्हें पूरा पूरा दण्ड मिले ॥ ७ ॥

यस्ते परूंषि संदुधौ रथस्येवर्भुर्धिया । तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥

(अध्यक्षः) अधिपतिः (नः) अस्माकम् (पुरोहितः) अ० ३ । १६ । १ । अग्रेसरः (प्रतीचीः) प्रतिकूलगतीः (कृत्याः) म० ४ । हिंसाः (आकृत्य) निष्पाद्य (अमून्) (कृत्याकृतः) म० २ । हिंसाकर्तॄन् (जहि) मारय ॥

७—(यः) शत्रुः (त्वा) त्वाम् (उवाच) कथितवान् (परा) दूरे (इहि) प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ (प्रतिकूलम्) विरुद्धपक्षवन्तं शत्रुम् (उदाय्यम्) उत्+आय-यत् । उदयं गच्छन्तम् (तम्) शत्रुम् (कृत्ये) म० ४ । हे हिंसाक्रिये (अभिनिवर्तस्व) अभितो निवर्त्य प्राप्नुहि (मा इच्छः) मा वाञ्छः (अनागसः) निर्दोषान् ॥

यः । ते । परूंषि । सम्-दधौ । रथस्य-इव । ऋभुः । धिया ॥ तम् । गच्छ । तत्र । ते । अयनम् । अज्ञातः । ते । अयम् । जनः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे हिंसा क्रिया !] (यः) जिस [शत्रु] ने (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ों को (सन्दधौ) जोड़ा था, (इव) जैसे (ऋभुः) बुद्धिमान् [शिल्पी] (रथस्य) रथ के [जोड़ों को] (धिया) अपनी बुद्धि से। (तम्) उसको (गच्छ) पहुंच, (तत्र) वहां पर (ते) तेरा (अयनम्) घर है, (अयम्) यह (जनः) पुरुष (ते) तेरा (अज्ञातः) अनजान [होवे] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रपंच रचकर प्रजा जनों को गुप्त रीति से सतावें उन्हें दण्ड दिया जावे ॥ ८ ॥

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः । शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

ये । त्वा । कृत्वा । आ-लेभिरे । विद्वलाः । अभि-चारिणः ॥ शम्-भु । इदम् । कृत्या-दूषणम् । प्रति-वर्त्म । पुनः-सरम् । तेन । त्वा । स्नपयामसि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे हिंसा !] (ये) जिन (विद्वलाः) दुःखदायी, (अभिचारिणः) विरुद्ध आचारण वालों ने (त्वा) तुझे (कृत्वा) बनाकर (आलेभिरे) ग्रहण किया था। (इदम्) यह (शंभु) सुखदायी (कृत्यादूषणम्) हिंसा का

८—(यः) शत्रुः (ते) तव (परूंषि) अवयवान् (संदधौ) संयोजितवान् (रथस्य) (इव) (ऋभुः) अ० १ । २ । ३ । मेधावी-निघ० ३ । १५ । शिल्पी (धिया) बुद्ध्या (तम्) शत्रुम् (गच्छ) प्राप्नुहि (तत्र) (ते) तव (अयनम्) गृहम् (अज्ञातः) अपरिचितः (अयम्) (जनः) ॥

९—(ये) (त्वा) त्वां कृत्याम् (आलेभिरे) गृहीतवन्तः (विद्वलाः) सानसिवर्णसि० । उ० ४ । १०७ । विद ज्ञाने वेदनायां च—वलच्, गुणाभावः । वेदनाशीलाः । दुःखदायिनः (अभिचारिणः) विरुद्धाचाराः (शम्भु) शान्तिकरम्

खण्डन [उनके लिये] (पुनः सरम्) अवश्य ज्ञान कराने वाला (प्रतिवर्त्म) प्रत्यक्ष मार्ग है। (तेन) उसी [कारण] से (त्वा) तुझे (स्नपयामसि) हम शुद्ध करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को ऐसी उत्तम नीति से सुधारे कि उन के आचार विचार फिर धार्मिक हो जावें ॥ ६ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

यत् । दुः-भगाम् । प्र-स्नपिताम् । मृत-वत्साम् । उप-एयिम ॥
अप । एतु । सर्वम् । मत् । पापम् । द्रविणम् । मा । उप ।
तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(यत्) यदि (दुर्भगाम) दुर्भाग्य वाली, [अथवा] (स्नपिताम्) शुद्ध आचरण वाली, [अथवा] (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली [शोकातुर स्त्री] के (उपेयिम) हम पास गये हैं। (सर्वम्) सब (पापम्) पाप (मत्) मुझ से (अप एतु) हट जावे, (द्रविणम्) बल (मा) मुझको (उप तिष्ठतु) प्राप्त हो ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य से दुष्कर्म हो जावे वह यथावत् दण्ड भोगकर धर्म में प्रवृत्त होकर सुखी होवे ॥ १० ॥

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्याऽत् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥

(इदम्) (कृत्यादूषणम्) हिंसाखण्डनम् (प्रतिवर्त्म) प्रत्यक्षमार्गः (पुनःसरम्) पुनः अवधारणे + सृ गतौ—अच्। निश्चयेन सरो ज्ञानं यस्मात् तत् (तेन) कारणेन (त्वा) त्वां कृत्याम् (स्नपयामसि) स्नपयामः। शोधयामः ॥

१०—(यत्) यदि (दुर्भगाम्) दुर्भाग्यवतीम् (स्नपिताम्) शोधिताम् शुद्धाचाराम् (मृतवत्साम्) मृतबालकाम्। शोकग्रस्तामित्यर्थः (उपेयिम) उप + आङ्—ईयिम। वयं प्राप्तवन्तः (अपैतु) दूरे गच्छतु (सर्वम्) (मत्) मत्तः (पापम्) अनिष्टं दुःखम् (द्रविणम्) बलम् (मा) माम् (उप तिष्ठतु) प्राप्नोतु ॥

यत् । ते । पितृ-भ्यः । ददतः । यज्ञे । वा । नाम । जगृहुः ॥ सम्-देश्यात् । सर्वस्मात् । पापात् । इमाः । मुञ्चन्तु । त्वा । ओषधीः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (यज्ञे) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म करने] में (पितृभ्यः) पितरों [माता पिता आचार्य आदि] को (ददतः) दान करते हुये (ते) तेरा (नाम वा) नाम (जगृहुः) उन्होंने लिया है । (सर्वस्मात्) [उनके] प्रत्येक (संदेश्यात्) अभीष्ट (पापात्) पाप से (इमाः) यह (औषधीः) ओषधियां [ओषधि रूप दुःख नाशक विद्वान् पुरुष] (त्वा) तुझको (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि कोई पुरुष किसी सत्पुरुष को दान आदि शुभकर्म में मिथ्या दोष लगावें, विद्वान् लोग यथायोग्य अनुसन्धान करके उस दोष से उसे मुक्त करें ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् । मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् १२

देव-एनसात् । पित्र्यात् । नाम-ग्राहात् । सम्-देश्यात् । अभि-निष्कृतात् ॥ मुञ्चन्तु । त्वा । वीरुधः । वीर्येण । ब्रह्मणा । ऋक्-भिः । पयसा । ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(देवैनसात्) विजयी पुरुषों के लिये पाप से, (पित्र्यात्) पितरों [माता पिता गुरु आदि] के लिये पाप से, (संदेश्यात्) अभीष्ट और

११—(यत्) यदि (ते) तव (पितृभ्यः) मातापितृगुर्वादिभ्यः (ददतः) दानशीलस्य (यज्ञे) धर्मकर्मणि (वा) पादपूरणे (नाम) मिथ्यापवादम् (जगृहुः) गृहीतवन्तः । आरोपितवन्तः (सन्देश्यात्) दिश दाने-ण्यत् । अभिलषितात् । अभीष्टात् (सर्वस्मात्) (पापात्) (इमाः) (मुञ्चन्तु) वियोजयन्तु (त्वा) (ओषधीः) ओषधयः । ओषधिवत् तापनाशका विद्वांसः ॥

१२-(देवैनसात्) विजिगीषून् प्रति पापात् (पित्र्यात्) अ० ६ । १२० । २ । पितॄन् प्रति पापात् (नामग्राहात्) मिथ्यापवादात् (संदेश्यात्) म० ११ । अभी-

(अभिनिष्कृतात्) प्रतिकूल सिद्ध किये हुये (नामग्राहात्) नामग्रहण से (वीरुधः) ओषधें [ओषधिसमान उपकारी लोग] (त्वा) तुझ को (वीर्येण) अपने सामर्थ्य द्वारा, (ब्रह्मणा) तप द्वारा, (ऋग्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (ऋषीणाम्) ऋषियों के (पयसा) ज्ञान द्वारा (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग दुष्कर्मियों को धर्मानुसार दण्ड देकर और यथावत् वेदादि शास्त्रों के उपदेशसे उनको उनके दुष्ट स्वभावों से छोड़ावें॥१२॥

यथा वार्तश्च्यावर्यति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

यथा । वार्तः । च्यवर्यति । भूम्याः । रेणुम् । अन्तरिक्षात् । च । अभ्रम् ॥ एव । मत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । ब्रह्म-नुत्तम् । अप । अयति ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) रेणु [धूलि] को (च) और (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) सरका देता है । (एव) वैसे ही (मत्) मुझ से (सर्वम्) सब (ब्रह्मनुत्तम्) ब्राह्मणों द्वारा हटाया गया (दुर्भूतम्) पाप (अप अयति) दूर चला जावे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदुपदेश पाकर पाप कर्म छोड़ने में शीघ्रता करे ॥१३॥

अप क्राम नार्नदती विनद्धा गर्दभीव ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

ष्टात् (अभिनिष्कृतात्) प्रतिकूलं साधितात् (मुञ्चन्तु) (त्वा) (वीरुधः) ओषधिवदुपकारिणः (वीर्येण) स्वसामर्थ्येन (ब्रह्मणा) तपसा (ऋग्भिः) वेदवाग्भिः (पयसा) पय गतौ—असुन् । ज्ञानेन (ऋषीणाम्) कृतसाक्षात्धर्मणाम् ॥

१३—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) वायुः (च्यावयति) अपगमयति (भूम्याः) (रेणुम्) अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । री गतिरेषणयोः—णु । धूलिम् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (च) (अभ्रम्) मेघम् (एव) एवम् (मत्) मत्तः (सर्वम्) (दुर्भूतम्) पापम् । दुःखम् (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मभिर्वेदविद्भिः प्रेरितम् (अप अयति) नश्यतु ॥

अप । क्राम । नानदती । वि-नद्धा । गर्दभी-इव ॥
कर्तॄन् । नक्षस्व । इतः । नुत्ता । ब्रह्मणा । वीर्य-वता ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(विनद्धा) खुली हुई, (गर्दभी इव) गदही के समान (नानदती) अति रेंकती हुई तू (अप क्राम) भाग जा । (वीर्यवता) पराक्रमी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानी करके (इतः) यहां से (नुत्ता) निकाली हुई तू (कर्तॄन्) हिंसकों में (नक्षस्व) पहुंच ॥ १४ ॥

भावार्थ—नीति निपुण लोगों के उपाय से हिंसक लोग आपस में विरोध करके निर्बल होजावें ॥ १४ ॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः । तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥

अयम् । पन्थाः । कृत्ये । इति । त्वा । नयामः । अभि-प्रहिताम् । प्रति । त्वा । प्र । हिण्मः ॥ तेन । अभि । याहि । भञ्जती । अनस्वती-इव । वाहिनी । विश्व-रूपा । कुरूटिनी१५

भाषार्थ—"(कृत्ये) हे हिंसा ! [अर्थात् हिंसक] (अयम् पन्थाः इति) यह मार्ग है"—(त्वा) तुझे (नयामः) हम ले चलते हैं, (अभिप्रहिताम्) [हमारे] प्रतिकूल भेजी हुई (त्वा) तुझ को (प्रति) उलटा (प्र हिण्मः) हम हटाते हैं । (तेन) उसी [मार्ग] से (भञ्जती) टूटती हुई तू [उन पर]

१४—(अप क्राम) दूरं गच्छ (नानदती) णद अव्यक्ते शब्दे यङ्लुकि-शतृ । भृशं ध्वनिं कुर्वती (विनद्धा) वियुक्ता (गर्दभी) गर्द रवे-अभच् । रासभी (इव) यथा (कर्तॄन्) म० ३ । हिंसकान् (नक्षस्व) गच्छ (इतः) अस्मात् स्थानात् (नुत्ता) बहिष्कृता (ब्रह्मणा) चतुर्वेदिना (वीर्यवता) पराक्रमिणा ॥

१५—(अयम्) (पन्थाः) मार्गः (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (इति) वाक्य-समाप्तौ (त्वा) त्वाम् (नयामः) प्रापयामः (अभिप्रहिताम्) अस्मान् प्रति प्रेषिताम् (प्रति) प्रतिकूलम् (त्वा) (प्र) (हिण्मः) प्रेरयामः (तेन) (अभि याहि) तान् प्रति गच्छ (भञ्जती) भञ्जनं कुर्वती (अनस्वती) रथैर्युक्ता (इव)

(अभि याहि) चढ़ाई कर, (इव) जैसे (अनस्वती) बहुत रथों वाली, (विश्वरूपा) सब अङ्गों [हाथी, घोड़ों आदि] वाली (कुरूटिनी) बांकेपन से रोकनेवाली (वाहिनी) सेना [चढ़ाई करती है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीतिमान् सेनापति अपने पराक्रम से शत्रुसेना में शीघ्र हलचल मचा देवे कि वे आपस में लड़ने लगें ॥ १५ ॥

परा॑क् ते॒ ज्योति॑रप॒थं ते॑ अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मदय॑ना कृणुष्व ।
प॒रेणे॑हि नव॒तिं ना॒व्या॒३॒॑ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्ष॑णिष्ठाः॒ परे॑हि ॥ १६ ॥

परा॑क् । ते॒ । ज्योति॑ः । अ॒प॒थम् । ते॒ । अ॒र्वाक् । अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । अय॑ना । कृ॒णु॒ष्व॒ ॥ प॒रेण॑ । इ॒हि॒ । न॒व॒तिम् । ना॒व्याः॑ । अति॑ । दुः॒ऽगाः । स्रो॒त्याः । मा । क्ष॒णि॒ष्ठाः॒ । परा॑ । इ॒हि॒ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पराक्) आगे की ओर (ते) तेरे लिये (ज्योतिः) ज्योति [अग्नि आदि प्रकाश] है, (अर्वाक्) इस ओर (ते) तेरे लिये (अपथम्) मार्ग नहीं है, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [अपने] (अयना) मार्गों को (कृणुष्व) कर। (परेण) दूसरे [मार्ग] से (नवतिम्) नब्बे [अर्थात् अनेक] (दुर्गाः) बड़ी कठिन, (नाव्याः) नावों से उतरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों को (अति) पार करके (इहि) जा, [हमको] (मा क्षणिष्ठाः) मत घायल कर, (परा इहि) हट जा ॥ १६ ॥

यथा (वाहिनी) सेना (विश्वरूपा) सर्वाङ्गोपेता (कुरूटिनी) कु + रुट प्रतिघाते भावार्थं च—क, इनि, ङीप्, छान्दसो दीर्घः । कु कुटिलं प्रतिघातिनी, अवरोधिका ॥

१६—(पराक्) अभिमुखम् (ते) तुभ्यम् (ज्योतिः) प्रकाशः (अपथम्) पथो विभाषा । पा० ५ । ४ । ७२ । नञ् + पथिन्—अप्रत्ययः । अपथं नपुंसकम् । पा० २ । ४ । ३० । इति नपुंसकम् । मार्गाभावः । कुमार्गः (ते) तुभ्यम् (अर्वाक्) अवरदेशे (अन्यत्र) (अस्मत्) (अयना) मार्गान् (कृणुष्व) कुरु (परेण)

भावार्थ—चतुर सेनापति उचित व्यूह रचना से शत्रु सेना को आग्नेय आदि अस्त्र शस्त्रों द्वारा आगे पीछे से रोक दे और अपने बचाने के लिये पार्श्व मार्ग से उसे निकल जाने दे ॥ १६ ॥

वात॑ इव वृ॒क्षान् नि मृ॑णीहि पा॒दय॒ मा गामश्वं॒ पुरु॑षमुच्छि॑ष एषाम्। कर्तॄ॒न् नि॒वृत्ये॒तः कृ॑त्येऽप्रजा॒स्त्वाय॑ बोधय ॥ १७ ॥

वात॑:-इव। वृ॒क्षान्। नि। मृ॒णीहि॒। पा॒दय॑। मा। गाम्। अश्व॑म्। पुरु॑षम्। उत्। शि॒षः। ए॒षाम्॥ कर्तॄ॒न्। नि॒-वृत्य॑। इ॒तः। कृत्ये॒। अ॒प्र॒जाः-त्वाय॑। बो॒ध॒य ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कर्तॄन्) हिंसकों को (नि मृणीहि) मार डाल और (पादय=पातय) गिरा दे, (वातः इव) जैसे वायु (वृक्षान्) वृक्षों को, (एषाम्) इनकी (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़ा और (पुरुषम्) पुरुष को (मा उत् शिषः) मत छोड़। (कृत्ये) हे हिंसा शील! (इतः) यहां से (निवृत्य) लौट कर (अप्रजास्त्वाय) [उनकी] प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक आदि] की हानि के लिये [उन्हें] (बोधय) जगा दे ॥ १७ ॥

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं को ऐसा हरा देवे कि वे सर्वथा उपायहीन और राज्यहीन हो जावें ॥ १७ ॥

यां ते॑ ब॒र्हिषि॒ यां श्म॑शा॒ने क्षेत्रे॑ कृ॒त्यां व॑ल॒गं वा॑ निच॒ख्नुः।

यथा (इहि) गच्छ (नवतिम्) वह्वीः—इत्यर्थः (नाव्याः) अ० ८। ५। ६। नौभिस्तार्याः (अति) अतीत्य (दुर्गाः) दुर्गमनीयाः (स्रोत्याः) अ० १। ३२। ३। जलप्रवाहाः (मा क्षणिष्ठाः) क्षणु हिंसायाम्—लुङ्। मा हिंसीः (परा इहि) दूरं गच्छ ॥

१७-(वातः) (इव) (वृक्षान्) (नि) नितराम् (मृणीहि) मारय (पादय) तस्य दः। पातय (मा उत् शिषः) । अ० ६। १२७। १। मोच्छेषय (गाम्) (अश्वम्) (पुरुषम्) (एषाम्) हिंसकानाम् (कर्तॄन्) म० ३। हिंसकान् (निवृत्य) परागत्य (इतः) अस्मात् स्थानात् (कृत्ये) हे हिंसा-क्रिये (अप्रजास्त्वाय) अ० ८। ६। २६। पुत्रपौत्रसेवकादिराहित्याय (बोधय) विज्ञापय ॥

अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥ १८ ॥

याम् । ते । बर्हिषि । याम् । श्मशाने । क्षेत्रे । कृत्याम् । वलगम् । वा । नि-चख्नुः ॥ अग्नौ । वा । त्वा । गार्ह-पत्ये । अभि-चेरुः । पाकम् । सन्तम् । धीर-तराः । अनागसम् ॥ १८ ॥

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् । तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् १९

उप-आहृतम् । अनु-बुद्धम् । नि-खातम् । वैरम् । त्सारि । अनु । अविदाम । कर्त्रम् ॥ तत् । एतु । यतः । आ-भृतम् । तत्र । अश्वः-इव । वि । वर्तताम् । हन्तु । कृत्या-कृतः । प्र-जाम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (याम् याम्) जिस जिस (कृत्याम्) हिंसा क्रिया को (वा) अथवा (वलगम्) गुप्त कर्म को (ते) तेरे (बर्हिषि) जल में, (श्मशाने) मरघट में [अथवा] (क्षेत्रे) खेत में (धीरतराः) धीरों के दबाने वालों ने (निचख्नुः) दबा दिया है । (वा) अथवा (गार्हपत्ये) गृहपतियों करके संयुक्त (अग्नौ) अग्नि में (पाकम्) परिपक्व स्वभाव वाले, (सन्तम्) सन्त [सदाचारी] और (अनागसम्) निर्दोषी (त्वा) तेरे (अभिचेरुः) उन्होंने विरुद्ध आचरण किया है ॥ १८ ॥

१८—(याम्) (ते) तव (बर्हिषि) अ० ५ । २२ । १ । जले—निघ० १ । १२ (याम्) (श्मशाने) अ० ५ । ३१ । ८ । शवदाहस्थाने (क्षेत्रे) शस्योत्पत्तिस्थाने (कृत्याम्) हिंसाम् (वलगम्) अ० ५ । ३१ । ४ । आच्छादनम् । गुप्तकर्म (वा) (निचख्नुः) अ० ५ । ३१ । ८ । निखातवन्तः (अग्नौ) (वा) (त्वा) (गार्हपत्ये) अ० ६ । १२० । १ । गृहपतिभिः संयुक्ते (अभिचेरुः) अ० ५ । ३० । २ । दुष्कृतवन्तः (पाकम्) अ० ८ । ६ । २२ । परिपक्वमनस्कम् (सन्तम्) सदाचारिणम् (धीरतराः) धीर+तॄ प्लवने अभिभवे च—अच् । धीराणां बुद्धिमतामभिभवितारः (अनागसम्) अ० ७ । ६ । ३ । अनपराधिनम् ॥

[उस] (अनुवुद्धम्) ताक लगाये गये, (उपाहृतम्) प्रयोग किये गये, (निखातम्) दबाये गये [सुरंग, गढ़े आदि में छिपाये गये] (वैरम्) वैर रूप (त्सारि) टेढ़े (कर्त्रम्) कटार को (अनु अविदाम) हमने ढूंढ़ लिया है। (तत्) वह (एतु) चला जावे, (यतः) जहां से (आभृतम्) लाया गया है, (तत्र) वहां पर (अश्वः इव) घोड़े के समान (वि वर्तताम्) लोट जावे, (कृत्याकृतः) हिंसा करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] को (हन्तु) मारे ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो शत्रु लोग जल आदि के उपयोगी स्थानमें प्रकट वा गुप्त खाई, सुरंग आदि बनाकर हानिकारक क्रिया करें, चतुर सेनापति उन का खोज लगाकर उनको वैसी ही क्रियाओंसे विध्वंस करे ॥ १८, १९ ॥

इन मन्त्रों का मिलान करो—अथर्व० ५ । ३१ । ८, ६ ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि। उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)

सु-आयसाः। असयः। सन्ति। नः। गृहे। विद्म। ते। कृत्ये। यति-धा। परूंषि ॥ उत्। तिष्ठ। एव। परा। इहि। इतः। अज्ञाते। किम्। इह। इच्छसि ॥ २० ॥ (२)

भाषार्थ-(स्वायसाः) सुन्दर रीतिसे लोहे की बनी (असयः) तलवारें (नः गृहे) हमारे घर में (सन्ति) हैं, (कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (ते)

१९—(उपाहृतम्) प्रयुक्तम् (अनुवुद्धम्) अनुक्रमेण विचारितम् (निःखातम्) खनित्वा स्थापितम् (वैरम्) द्वेषम् (त्सारि) त्सर छद्मगतौ—णिनि। वक्रम् (अनु) अनुसन्धानेन (अविदाम) विदॢ लाभे—लुङ्। वयं प्राप्तवन्तः (कर्त्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४। १५९। कृती छेदने—ष्ट्रन्, तलोपः। यद्वा, कृञ् हिंसायाम्—ष्ट्रन्। कर्तनायुधम्। कृपाणम् (तत्) (एतु) (यतः) यस्मात् (आभृतम्) आहृतम् (तत्र) (अश्वः इव) (वि वर्तताम्) विविधं वर्तनं करोतु (हन्तु) (कृत्याकृतः) म० २। हिंसाकारकस्य (प्रजाम्) पुत्र-पौत्रभृत्यादिरूपाम् ॥

२०-(स्वायसाः) अयम्—अण्। सु सुष्ठु अयसा लोहेन निर्मिताः (असयः) तरवारयः (सन्ति) (नः) अस्माकम् (गृहे) (विद्म) जानीमः

तेरे (परूंषि) जोड़ों को, (यतिधा) जितने प्रकार के हैं, (विद्म) हम जानते हैं। (एव) बस (उत् तिष्ठ) खड़ी होजा, (इतः) यहां से (परा इहि) चली जा, (अज्ञाते) हे अपरिचित ! तू (इह) यहां (किम्) क्या (इच्छसि) चाहती है ॥ २० ॥

भावार्थ—सेनापति अच्छे २ अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र और सेना का नाश करे, और अनजान पुरुष को न आने दे ॥ २० ॥

ग्रीवास्ते॑ कृत्ये॒ पादौ॑ चापि॑ कर्त्स्यामि॒ निर्द्र॑व ।
इन्द्रा॒ग्नी अ॒स्मान् र॑क्षतां॒ यौ प्र॒जानां॑ प्र॒जाव॑ती ॥ २१ ॥

ग्रीवाः । ते॒ । कृ॒त्ये॒ । पादौ॑ । च॒ । अपि॑ । कर्त्स्या॒मि॒ । निः । द्र॒व॒ ॥ इन्द्रा॒ग्नी इति॑ । अ॒स्मान् । र॒क्षता॒म् । यौ । प्र॒-जाना॑म् । प्र॒जाव॑ती॒ इति॑ प्र॒जा-व॑ती ॥ २१ ॥

भाषार्थ-(कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (ते) तेरी (ग्रीवाः) ग्रीवा की नाड़ियों (च) और (पादौ) दोनों पैरों को (अपि) भी (कर्त्स्यामि) मैं काटूंगा, (निः द्रव) निकल जा। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान राजा और मन्त्री] (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें, (यौ) जो दोनों (प्रजानाम्) प्रजाओं के बीच (प्रजावती) श्रेष्ठ प्रजा वाली [माता के तुल्य हैं] ॥ २१ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री दुराचारियों के गले और पदादि अङ्ग कटवा कर प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ २१ ॥

(ते) तव (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (यतिधा) यत्प्रकाराणि (परूंषि) ग्रन्थीन् (उत्तिष्ठ) (एव) अवश्यम् (परेहि) (इतः) (अज्ञाते) हे अपरिचिते हिंसे (किम्) (इह) (इच्छसि) आकाङ्क्षसि ॥

२१—(ग्रीवाः) कण्ठनाडीः (ते) तव (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (पादौ, च, अपि) (कर्त्स्यामि) छेत्स्यामि (निर्द्रव) निर्गच्छ (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नितुल्यौ राजमन्त्रिणौ (अस्मान्) प्रजागणान् (रक्षताम्) (यौ) (प्रजानाम्) प्रजानां मध्ये (प्रजावती) श्रेष्ठप्रजायुक्ता माता यथा ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ।२२।

सोमः । राजा । अधि-पाः । मृडिता । च । भूतस्य । नः ।
पतयः । मृडयन्तु ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला (च) और (मृडिता) सुख देने वाला है, (भूतस्य) संसार के (पतयः) पालन करने वाले [राजपुरुष] (नः) हमें (मृडयन्तु) सुख देते रहें ॥ २२ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष प्रजा को सुख पहुंचाने में सदा तत्पर रहें ॥ २२ ॥

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते ।
दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

भवाशर्वौ । अस्यताम् । पाप-कृते । कृत्या-कृते ॥
दुः-कृते । वि-द्युतम् । देव-हेतिम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) सुख देने वाले और दुःख नाश करने वाले [राजा और मन्त्री दोनों] (पापकृते) पाप करने वाले (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले और (दुष्कृते) दुष्कर्मी पुरुष के लिये (देवहेतिम्) विद्वानों के वज्र (विद्युतम्) बिजुली [के शस्त्र] को (अस्यताम्) गिरावें ॥ २३ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री दुष्टों को यथावत् दंड देकर प्रजा में शांति रक्खें ॥ २३ ॥

२२—(सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः (अधिपाः) अधिकपालकः (मृडिता) सुखयिता (च) (भूतस्य पतयः) संसारस्य पालका राजपुरुषाः (नः) अस्मान् (मृडयन्तु) सुखयन्तु ॥

२३—(भवाशर्वौ) अ० ८ । २ । ७ । सुखस्य भावयिता कर्ता भवो राजा, दुःखस्य शरिता नाशकः शर्वो मन्त्री च तौ (अस्यताम्) प्रेरयताम् (पापकृते) पापकारिणे (कृत्याकृते) म० २ । हिंसाकारिणे (दुष्कृते) दुष्कर्मिणे (विद्युतम्) अशनिरूपं शस्त्रम् (देवहेतिम्) विदुषां वज्रम् ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतो३ष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

यदि । आ-इयथ । द्वि-पदी । चतुः-पदी । कृत्या-कृता । सम्-भृता विश्व-रूपा ॥ सा । इतः । अष्टा-पदी । भूत्वा । पुनः । परा । इहि । दुच्छुने ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले पुरुष द्वारा (संभृता) साधी गयी, (विश्वरूपा) अनेक रूप वाली [हिंसा] (द्विपदी) दोनों [स्त्री पुरुष समूह] में गति वाली, (चतुष्पदी) चारों [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासाश्रम] में पद वाली और (अष्टापदी) आठों [चार पूर्व आदि और चार आग्नेय आदि मध्य दिशाओं] में व्याप्ति वाली (भूत्वा) होकर (एयथ) तू आयी है। (सा) सो (दुच्छुने) हे दुष्टगति वाली ! तू (इतः) यहां से (पुनः) लौटकर (परा इहि) चली जा ॥ २४ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों में हिंसा कर्म बढ़ने से आश्रम व्यवस्था टूटकर संसार में दुःख फैलता है, इससे बुद्धिमान् राजा हिंसा को सदा नष्ट करे ॥२४

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

अभि-अक्ता । आ-अक्ता । सु-अरंकृता । सर्वम् । भरन्ती । दुः-इतम् । परा । इहि ॥ जानीहि । कृत्ये । कर्तारम् । दुहिता-इव । पितरम् । स्वम् ॥ २५ ॥

२४—(यदि) सम्भावनायाम् (एयथ) आ + इण् गतौ—लिट् । एयेथ । त्वमागतवती (द्विपदी) द्वयोः स्त्रीपुरुषसमूहयोर्मध्ये पदं गमनं यस्याः सा (चतुष्पदी) चतुर्षु ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु पदं स्थितिर्यस्याः सा (कृत्याकृता) म० २ । हिंसाकारकेण (संभृता) निष्पादिता (विश्वरूपा) अनेकविधा (सा) सा त्वम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (अष्टापदी) अष्टसु चतसृषु पूर्वादिदिक्षु, आग्नेयादिमध्यदिक्षु च पदं व्याप्तिर्यस्याः सा (भूत्वा) (पुनः) पश्चात् (परेहि) निर्गच्छ (दुच्छुने) अ० ५ । १७ । ४ । हे दुष्टगते।

भाषार्थ—(अभ्यक्ता) मली गयी, (आक्ता) चिकनी की गयी, (स्वरङ्कृता) भले प्रकार सजाई गयी, (सर्वम्) प्रत्येक (दुरितम्) सङ्कट को (भरन्ती) धारण करती हुयी तू (परा इहि) चली जा। (कृत्ये) हे हिंसा ! तू (कर्तारम्) अपने बनाने वाले को (जानीहि) जान, (इव) जैसे (दुहिता) पुत्री (स्वम् पितरम्) अपने पिता को [जानती है] ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो शत्रु लोग छल करके दुःख देनेवाली क्रियाको सुखदायी दिखावें, विद्वान् उस भेद को जानकर दुष्टों को दंड देवें ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय।

मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

परा । इहि । कृत्ये । मा । तिष्ठः। विद्धस्य-इव । पदम् । नय ॥

मृगः। सः। मृग-युः । त्वम् । न । त्वा । नि-कर्तुम्। अर्हति २६

भाषार्थ—(कृत्ये) हे हिंसा ! (परा इहि) चली जा, (मा तिष्ठः) मत खड़ी हो, (विद्धस्य) घायल के [पद से] (इव) जैसे (पदम्) ठिकाने को (नय) पाले।

[हे शूर !] (सः) वह [शत्रु] (मृगः) मृग [समान है], और (त्वम्) तू (मृगयुः) व्याध [समान है], वह (त्वा) तुझ को (न) नहीं (निकर्तुम् अर्हति) गिरा सकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न पूर्वक अन्वेषण करके दुराचारियों का खोज लगावे, जैसे व्याध घायल आखेट के रुधिर चिन्ह से उसे ढूंढ़ लेता है ॥२६॥
मनु महाराज कहते हैं—अध्याय ८ श्लोक ४४ ॥

२५—(अभ्यक्ता) अन्जू-क्त। अभितो मर्दिता (आक्ता) आङ् अन्जू-क्त। समन्तात् स्निग्धा (स्वरङ्कृता) सुभूषिता (सर्वम्) (भरन्ती) धरन्ती (दुरितम्) कष्टम् (परेहि) (जानीहि) (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (कर्तारम्) रचयितारम् (दुहिता इव) पुत्री यथा (पितरम्, स्वम्) ॥

२६—(परेहि) निर्गच्छ (कृत्ये) हे हिंसे (मा तिष्ठः) (विद्धस्य) व्यध ताडने-क्त। प्रहतस्य (इव) (पदम्) स्थानम् (नय) प्राप्नुहि (मृगः) (सः) शत्रुः (मृगयुः) मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। मृग+या प्रापणे-कु। व्याधः (त्वम्) (न) निषेधे (त्वा) (निकर्तुम्) अभिभवितुम् (अर्हति) युज्यते ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ १ ॥

जैसे व्याध रुधिर के गिरने से मृग का ठिकाना पालेता है, वैसे ही राजा अनुमान से धर्म का ठिकाना पावे ॥ १ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

उत । हन्ति । पूर्व-आसिनम् । प्रति-आदाय । अपरः । इष्वा ॥
उत । पूर्वस्य । नि-घ्नतः । नि । हन्ति । अपरः । प्रति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अपरः) अति श्रेष्ठ [बड़ा सावधान पुरुष] (उत) ही (पूर्वासिनम्) पहिले [चोट] चलाने वाले को (प्रत्यादाय) उलटा पकड़कर (इष्वा) तीर से (हन्ति) मारता है । (अपरः) अति श्रेष्ठ (उत) ही (पूर्वस्य निघ्नतः) पहिले चोट मारने वाले का (प्रति) बदले में (नि) निरन्तर (हन्ति) हनन करता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—सावधान दूरदर्शी पुरुष शत्रु की चोट लगने से पहिले ही उसे मारता है, और वीर मनुष्य ही वैरी की चोट से बचकर उसका ही हनन करता है ॥ २७ ॥

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८

एतत् । हि । शृणु । मे । वचः । अथ । इहि । यतः । आ-इयथ ॥ यः । त्वा । चकार । तम् । प्रति ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (एतत्) इस [निर्णय सूचक] (वचः) वचन

२७—(उत) एव (हन्ति) (पूर्वासिनम्) पूर्व+असु क्षेपणे-णिनि । पूर्वशस्त्रक्षेप्तारम् (प्रत्यादाय) प्रतिकूलं गृहीत्वा (अपरः) नास्ति परः श्रेष्ठो यस्मात् सः । अनुत्तमः । अतिसावधानः (इष्वा) बाणेन (उत) (पूर्वस्य) अग्रवर्त्तिनः (निघ्नतः) नितरां हननं कुर्वतः (नि) निरन्तरम् (हन्ति) (अपरः) अतिसावधानः (प्रति) प्रतिकूलत्वेन ॥

२८—(एतत्) इदं निर्णयसूचकम् (हि) अवश्यम् (शृणु) (मे) मम

को (हि) अवश्य (शृणु) सुन, (अथ) फिर (इहि) जा (यतः) जहां से (एयथ) तू आयी है। (यः) जिसने (त्वा) तुझे (चकार) बनाया है (तम् प्रति) उसके पास [जा] ॥ २८ ॥

भावार्थ—राजा निर्णय पूर्वक अपराधी को दोष बताकर दोष के अनुसार दण्ड देवे ॥ २८ ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव २९

अनागः-हत्या । वै । भीमा । कृत्ये । मा । नः । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । वधीः ॥ यत्र-यत्र । असि । नि-हिता । ततः । त्वा । उत् । स्थापयामसि । पर्णात् । लघीयसी । भव २९

भाषार्थ—(कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (अनागोहत्या) निर्दोषी की हत्या (वै) अवश्य (भीमा) भयानक है, (नः) हमारी (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़े और (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार। (यत्रयत्र) जहां जहां पर तू (निहिता) गुप्त रक्खी गयी (असि) है, (ततः) वहां से (त्वा) तुझ को (उत् स्थापयामसि) हम उठाये देते हैं, तू (पर्णात्) पत्ते से (लघीयसी) अधिक हलकी (भव) होजा ॥ २९ ॥

भावार्थ—राजा विचार पूर्वक अनपराधियों के गुप्तरीति से सताने वाले दुराचारियों को उचित दण्ड देकर अपने वश में रक्खे ॥ २९ ॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥

(वचः) वचनम् (अथ) तदा (इहि) गच्छ (यतः) यस्मात् स्थानात् (एयथ) आङ् + इण् गतौ—लिट्। एयेथ। आगतवती त्वम् (यः त्वा, चकार, तम् प्रति) ॥

२९—(अनागोहत्या) अनपराधिनो घातः (वै) अवश्यम् (भीमा) भयावहा (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (नः) अस्माकम् (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) (मा वधीः) मा हिंसीः (यत्रयत्र) यस्मिंश्चित् स्थाने (असि) (निहिता) गुप्तं स्थापिता (ततः) (त्वा) (उत् स्थापयामसि) उत्थापयामः (पर्णात्) तरुपत्रात् (लघीयसी) लघुतरा (भव) ॥

यदि । स्थ । तमसा । आ-वृता । जालेन । अभिहिताः-इव ॥ सर्वाः । सम्-लुप्य । इतः । कृत्याः । पुनः । कर्त्रे । प्र । हिण्मसि ३०

भाषार्थ—(यदि) जो तुम (तमसा) अन्धकार से (आवृता) ढक लेने वाले (जालेन) जाल से (अभिहिताः इव) बन्धी हुई के समान (स्थ) हो । (इतः) यहां से (सर्वाः) सब (कृत्याः) हिंसा क्रियाओं को (संलुप्य) काट डालकर (पुनः) फिर (कर्त्रे) बनाने के पास (प्र हिण्मसि) हम भेजे देते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो छली मनुष्य दीन अज्ञानियों को फांसकर उनसे अपराध करावें, राजा खोज करके उन बहकाने वालों को उचित दण्ड देवे ॥ ३० ॥

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥

कृत्या-कृतः । वलगिनः । अभि-निष्कारिणः । प्र-जाम् ॥ मृणीहि । कृत्ये । मा । उत् । शिषः । अमून् । कृत्या-कृतः । जहि ३१

भाषार्थ—(कृत्ये) हे कर्तव्य कुशल [सेना !] (कृत्याकृतः) हिंसा करने वाले (वलगिनः) गुप्त कर्म करने वाले और (अभिनिष्कारिणः) विरुद्ध यत्न करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा [सेवक आदि] को (मृणीहि) मार डाल, (मा उत् शिषः) मत छोड़, (अमून्) उन (कृत्याकृतः) हिंसा करने वालों को (जहि) नाश कर ॥ ३१ ॥

३०—(यदि, स्थ) (तमसा) अन्धकारेण (आवृता) वृणोतेः-क्विप् तुक् च । आवरकेण (जालेन) पाशेन (अभिहिताः) बद्धाः (इव) (सर्वाः) (संलुप्य) सम्यक् छित्वा (कृत्याः) दोषक्रियाः (इतः) अस्मात् स्थानात् (पुनः) पश्चात् (कर्त्रे) रचयित्रे पुरुषाय (प्र हिण्मसि) प्रेरयामः ॥

३१—(कृत्याकृतः) मं० २ । हिंसाकारकस्य (वलगिनः) अ० ५ । ३१ । १२ । गुप्तकर्मकारिणः (अभिनिष्कारिणः) प्रतिकूलयत्नसाधकस्य (प्रजाम्) भृत्यादिरूपाम् (मृणीहि) मारय (कृत्ये) करोतेः क्यप् तुक् च, ततः अर्श-आद्यच्, टाप्, तत्सम्बुद्धौ । हे कृत्ये कर्तव्ये कुशले सेने प्रजे वा (अमून्) (कृत्याकृतः) हिंसाकारकान् (जहि) नाशय ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा शत्रुओं को दल बल सहित नाश करदे ॥ ३१ ॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्। एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

यथा। सूर्यः। मुच्यते। तमसः। परि। रात्रिम्। जहाति। उषसः। च। केतून् ॥ एव। अहम्। सर्वम्। दुः-भूतम्। कर्त्रम्। कृत्या-कृता। कृतम्। हस्ती-इव। रजः। दुः-इतम्। जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि) अन्धकार में से (मुच्यते) छूटता है और (रात्रिम्) (च) और (उषसः) उषा [प्रभात समय] के (केतून्) चिह्नों को (जहाति) त्यागता है। (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले करके (कृतम्) किये हुये (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) दुष्ट (कर्त्रम्) कर्म को (जहामि) त्यागता हूं; (इव) जैसे (हस्ती) हाथी (दुरितम्) कठिन (रजः) देश को [पार कर जाता है] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि अपनी तीव्र बुद्धि द्वारा दुष्टों की दुष्टता से पार होकर प्रकाशमान और प्रसन्न होवे, जैसे सूर्य अन्धकार को हटाकर प्रकाशमान होता है, अथवा जैसे हाथी कठिन स्थानों को पार कर जाता है ॥ ३२ ॥

३२—(यथा, सूर्यः) (मुच्यते) त्यज्यते (तमसः) अन्धकारात् (परि) पृथक् (रात्रिम्) (जहाति) त्यजति (उषसः) प्रभातवेलायाः (च) (केतून्) चिह्नानि (एव) तथा (अहम्) (सर्वम्) (दुर्भूतम्) दुष्टम् (कर्त्रम्) करोतेः ष्ट्रन्। कर्म (कृत्याकृता) म० २। हिंसाकारिणा (कृतम्) निष्पादितम् (हस्ती, इव) (रजः) लोकम्-निरु० ४। १९। देशम् (दुरितम्) दुर्गमनीयम् (जहामि) त्यजामि ॥

सूक्तम् २ ॥

१—३३ ॥ प्रजापतिर्ब्रह्म वा देवता ॥ १-३, ७, ८ त्रिष्टुप्; ४ निचृत् त्रिष्टुप्; ५, ६, १०, १२—२७, २६—३२ अनुष्टुप्; ६ निचृज् जगती; ११ जगती; २८ बृहती; ३३ निचृदनुष्टुप् ॥

मनुष्यशरीरमहिमोपदेशः—मनुष्य शरीर की महिमा का उपदेश ॥

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ । केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥

केन । पार्ष्णी इति । आभृते । पुरुषस्य । केन । मांसम् । सम्-भृतम् । केन । गुल्फौ । केन । अङ्गुलीः । पेशनीः । केन । खानि । केन । उत्-श्लङ्खौ । मध्यतः । कः । प्रति-स्थाम् ॥१॥

भाषार्थ—(केन) किस करके (पुरुषस्य) मनुष्य की (पार्ष्णी) दोनों एड़ियां (आभृते) पुष्ट की गयीं; (केन) किस करके (मांसम्) मांस (संभृतम्) जोड़ा गया, (केन) किस करके (गुल्फौ)दोनों टकने। (केन) किस करके (पेशनीः) सुन्दर अवयवों वाली (अङ्गुलीः) अङ्गुलियां, (केन) किस करके (खानि) इन्द्रियां, (केन) किस करके (उच्छ्लङ्खौ) दोनों उच्छ्लङ्ख [पांव के तलवे, जोड़े गये], (कः) किस ने [भूगोल के] (मध्यतः) बीचो बीच (प्रतिष्ठाम्) ठिकाना [पांव रखने को, बनाया] ॥ १ ॥

१—(केन) प्रश्ने (पार्ष्णी) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागौ (आभृते) सम्यक् पोषिते (पुरुषस्य) अ० १ । १६ । ४ । मनुष्यस्य (केन) (मांसम्) शरीरधातुविशेषः (संभृतम्) संयोजितम् (केन) (गुल्फौ) कलिगलिभ्यां फगस्योच्च । उ० ५ । २६ । गल अदने—फक्, अकारस्य उत्वम् । पादग्रन्थी (केन) (अङ्गुलीः) अङ्गुलयः (पेशनीः) पिश अवयवे-ल्युट्, ङीप् । पेशन्यः । उत्तमावयवयुक्ताः (केन) (खानि) खन विदारे-ड । छिद्राणि । इन्द्रियाणि (केन) (उच्छ्लङ्खौ) उत्+श्लकि गतौ-अच् । कस्य खः । द्वे पादतले (मध्यतः) भूगोलमध्य इत्यर्थः (कः) (प्रतिष्ठाम्) (पादाश्रयम्, चकारेतिशेषः ॥

भावार्थ—मन्त्र १-४ प्रश्न हैं। जिज्ञासु सदा खोजता रहे कि मनुष्य का अद्भुत शरीर, अद्भुत अंग, और स्थान आदि किस अद्भुत स्वरूप ने बनाये हैं ॥ १ ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥२॥

कस्मात्। नु। गुल्फौ। अधरौ। अकृण्वन्। अष्ठीवन्तौ। उत्-तरौ। पुरुषस्य ॥ जङ्घे इति। निः-ऋत्य। नि। अदधुः। क्व। स्वित्। जानुनोः। संधी इति सम्-धी। कः। ऊं इति। तत्। चिकेत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कस्मात) किस [पदार्थ] से (नु) अब (पुरुषस्य) मनुष्य के (अधरौ) नीचे के (गुल्फौ) दोनों टकने और (उत्तरौ) ऊपर के (अष्ठीवन्तौ) दोनों घुटने (अकृण्वन्) उन [ईश्वर गुणों] ने बनाये हैं। (जङ्घे) दोनों टांगों को (निर्ऋत्य) अलग अलग करके (क स्वित्) किसके भीतर (जानुनोः) दोनों घुटनों के (संधी) दोनों जोड़ो को (नि अदधुः) उन्हों ने जमाया, (कः उ) किस ने ही (तत्)उसे (चिकेत)जाना है ॥ २ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि किस वस्तु से ,किस बुद्धिमत्ता से, किस ने मनुष्य देह के अद्भुत अंगों को एक दूसरे में जोड़ा है ॥ २ ॥

२—(कस्मात्) पदार्थात् (नु) इदानीम् (गुल्फौ) म० १। पाद — ग्रन्थी (अधरौ) निम्नौ (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः। ते परमेश्वरगुणाः कृतवन्तः (अष्ठीवन्तौ) अ० २। ३३। ५। जान्वोः सन्धिस्थाने (उत्तरौ) उपरिभवौ (पुरूषस्य) म०१ (जङ्घे) अ० । ४। ११। १०। गुल्फजान्वोरन्तरालौ अवयवौ (निर्ऋत्य) निर् + ऋ गतौ —ल्यप्। निर्गम्य (नि) दृढम् (अदधुः) धृतवन्तः (क स्वित्) कुत्रचित् (जानुनोः) अ०६। ८। २१। जङ्घोपरिभागयोः (सन्धी) ग्रन्थी (कः) कश्चित् (उ) एव (तत्) प्रयोजनम् (चिकेत) ज्ञानवान् ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥
चतुष्टयम् । युज्यते । संहित-अन्तम् । जानु-भ्याम् । ऊर्ध्वम् । शिथिरम् । कबन्धम् ॥ श्रोणी इति । यत् । ऊरू इति । कः । ऊं इति । तत् । जजान । याभ्याम् । कुसिन्धम् । सु-दृढम् । बभूव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(चतुष्टयम्) चार प्रकार से (संहितान्तम्) सटे हुये सिरों वाला, (जानुभ्याम् ऊर्ध्वम्) दोनों घुटनों से ऊपर, (शिथिरम्) शिथिर [ढीला] (कबन्धम्) धड़ (युज्यते) जुड़ता है । (यत्) जो (श्रोणी) दोनों कूल्हे और (ऊरू) दोनों जांघें हैं, (कः उ) किसने ही (तत्) उनको (जजान) उत्पन्न किया, (याभ्याम्) जिन दोनों के साथ (कुसिन्धम्) [चिपचिपा] धड़ (सुदृढम्) बड़ा दृढ़ (बभूव) हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि चार अर्थात् दोनों कूल्हे और दोनों जांघों पर जमे हुये जल वा रुधिर आदि रसों से संयुक्त इस ढीले ढीले शरीर को अनेक नाडियों में कसकर किसने ऐसा दृढ़ बनाया है ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।

३—(चतुष्टयम) संख्याया अवयवे तयप् । पा० ५ । २ । ४२ । चतुर्—तयप्, रेफस्य विसर्गे सत्वे च कृते । ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । चतुरवयवयुक्तम् (युज्यते) (संहितान्तम) संधृतप्रान्तम् (जानुभ्याम्) जङ्घोपरिभागाभ्यां सह (ऊर्ध्वम्) (शिथिरम्) अजिरशिशिरशिथिल० । उ०१।५३। श्रथ मोचने—किरच्, उपधाया इत्वम्, रेफस्य लोपः । अदृढम् (कबन्धम्) अ० ६ । ४ । ३ । उदरं शरीरम् (श्रोणी) अ० २ । ३३ । ५ । कटिप्रदेशौ (यत्) ये द्वे (ऊरू) अ० २ । ३३ । ५ । जङ्घे (कः) प्रश्ने (उ) एव (तत्) ते द्वे (जजान) उत्पादयामास (याभ्याम्) (कुसिन्धम्) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । कुस श्लेषणे—इन्, कित् + दधातेः—क, अलुक् समासः । श्लेषधारकं देहम् (सुदृढम्) (बभूव) ॥

कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥

कति । देवाः । कतमे । ते । आसन् । ये । उरः । ग्रीवाः । चिक्युः । पुरुषस्य ॥ कति । स्तनौ । वि । अदधुः । कः । कफोडौ । कति । स्कन्धान् । कति । पृष्टीः । अचिन्वन् ॥ ४ ॥

भाषार्थ (ते) वे (कति) कितने और (कतमे) कौन से (देवाः)दिव्य गुण (आसन्) थे, (ये) जिन्होंने (पुरुषस्य) मनुष्य के (उरः) छाती और (ग्रीवाः) गले को (चिक्युः) एकत्र किया। (कति) कितनों ने (स्तनौ) दोनों स्तनों को (वि अदधुः) बनाया, (कः) किसने (कफोडौ) दोनों कपोलों [गालों] को [बनाया], (कति) कितनों ने (स्कन्धान्) कन्धों को और (कति) कितनों ने (पृष्टीः) पसलियों को (अचिन्वन्) एकत्र किया ॥ ४ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि कितने और किन गुणों के कारण से छाती ग्रीवा आदि अवयवों में अद्भुत गुण रक्खे गये हैं ॥ ४ ॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

कः । अस्य । बाहू इति । सम् । अभरत् । वीर्यम् । करवात् । इति ॥ अंसौ । कः । अस्य । तत् । देवः । कुसिन्धे । अधि । आ । दधौ ॥ ५ ॥

४—(कति) कियन्तः । किंपरिमाणाः (देवाः) दिव्यगुणाः (कतमे) बहूनां मध्ये के (ते) (आसन्) (ये) (उरः) हृदयम् (ग्रीवाः) गलावयवान् (चिक्युः) संचितवन्तः (पुरुषस्य) (कति) (स्तनौ) (व्यदधुः) अकार्षुः (कः) प्रश्ने (कफोडौ) कपिगडिगरिड० । उ० १ । ६६ । कपि चलने—ओलच् । पस्य फः, लस्य डः । कपोलौ । गल्लौ (कति) (स्कन्धान्) अंसान् (कति) (पृष्टीः) अ० ४ । ३ । ६ । पार्श्वास्थीनि (अचिन्वन्) संचितवन्तः ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [परमेश्वर] ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (बाहू) दोनों भुजाओं को [इस लिये] (सम् अभरत्) यथावत् पुष्ट किया है—कि वह (वीर्यम्) वीर कर्म (करवात् इति) करता रहे। (तत्) इसी लिये (देवः) प्रकाशमान (कः) प्रजापति ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (अंसौ) दोनों कन्धों को (कुसिन्धे) धड़ में (अधि) ऐश्वर्य से (आ) यथावत् (दधौ) धारण कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां से गत मन्त्रों का उत्तर है—सृष्टि कर्ता परमेश्वर ने इस मनुष्य को भुजा आदि अमूल्य अंग पुरुषार्थ करने के लिये दिये हैं ॥ ५ ॥

कः स॒प्त खानि॒ वि त॑तर्द शी॒र्षणि॒ कर्णा॑वि॒मौ नासि॑के॒ चक्ष॑णी॒ मुखम्॑ । येषां॑ पुरु॒त्रा वि॑ज॒यस्य॑ म॒ह्मनि॒ चतु॑ष्पादो॒ द्विप॑दो॒ यन्ति॒ याम॑म् ॥ ६ ॥

कः । स॒प्त । खानि॑ । वि । त॒त॒र्द॒ । शी॒र्षणि॑ । कर्णौ॑ । इ॒मौ । नासि॑के॒ इति॑ । चक्ष॑णी॒ इति॑ । मुख॑म् ॥ येषा॑म् । पु॒रु॒ऽत्रा । वि॒ऽज॒यस्य॑ । म॒ह्मनि॑ । चतुः॑ऽपादः । द्वि॒ऽपदः॑ । यन्ति॑ । याम॑म् ६

भाषार्थ—(कः) कर्त्ता [परमेश्वर] ने [मनुष्य के] (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ)

५—(कः) अ० ७ । १०३ । १ । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । डु कृञ् करणे—ड । मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः—इत्यमरः, व० २३ । ५ । कर्ता । विधाता । प्रजापतिः (अस्य) मनुष्यस्य (बाहू) भुजौ (सम्) सम्यक् (अभरत्) अपोषयत् (वीर्यम्) वीरकर्म । पराक्रमम् (करवात्) कुर्यात् (इति) वाक्यसमाप्तौ (अंसौ) स्कन्धौ (कः) (अस्य) (तत्) तस्मात् (देवः) प्रकाशमानः (कुसिन्धे) म० ३ । देहे (अधि) ऐश्वर्येण (आ) समन्तात् (दधौ) धारितवान् ॥

६—(कः) म० ५ । कर्ता । जगदीश्वरः (सप्त) (खानि) म० १ । छिद्राणि (वि ततर्द) तर्द हिंसायाम् । विदारितवान् (शीर्षणि) शिरसि (कर्णौ) (इमौ) (नासिके) नासाछिद्रे (चक्षणी) अर्तिसृधृ० । उ० २ ।

यह दो ने कान, (नासिके) दोनों नथने, (चक्षणी) दोनों आंखें और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (मह्नानि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दोपाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—कर्ता जगदीश्वर ने मस्तक के सातो गोलक अमूल्य पदार्थ बनाये हैं। जो प्राणी जितेन्द्रिय होकर इनको वेद विहित कर्मों में लगाते हैं वे सुखी होते हैं ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

हन्वोः। हि। जिह्वाम्। अदधात्। पुरूचीम्। अध। महीम्।
अधि। शिश्राय। वाचम् ॥ सः। आ। वरीवर्ति। भुवनेषु।
अन्तः। अपः। वसानः। कः। ऊं इति। तत्। चिकेत ॥७॥

भावार्थ—उसने (हि) ही [मनुष्य के](हन्वोः) दोनों जावड़ों में (पुरूचीम्) बहुत चलने वाली (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) धारण किया है, (अध) और [जीभ में] (महीम्) बड़ी [प्रभावशाली] (वाचम्) वाणी को (अधि शिश्राय) उपयुक्त किया है। (सः) वह (लोकेषु अन्तः) लोकों के

१०२। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—अनि। चक्षुषी (मुखम्) (येषाम्) (पुरुत्रा) बहुविधम् (विजयस्य) (मह्नानि) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। मह पूजायाम्—मनिन्। महत्त्वे (चतुष्पादः) गवाश्वादयः पशवः (द्विपदः) पक्षिमनुष्यादयः (यन्ति) गच्छन्ति (यामम्) अर्तिस्तुसुहुसृधृ०। उ० १। १४०। या प्रापणे—मन्। मार्गम् ॥

७—(हन्वोः) कपोलावयवविशेषयोर्मध्ये (हि) एव (जिह्वाम्) रसनाम् (अदधात्) (पुरूचीम्) अ० २। १३। ३। बहुगमनाम् (महीम्) प्रभावशीलाम् (अधि शिश्राय) उपयुक्तवान् (वाचम्) वाणीम् (सः) परमेश्वरः (आ) समन्तात् (वरीवर्ति) वर्ततेर्यङ्लुकि। भृशं भ्रमति (भुवनेषु) लोकेषु

भीतर (आ) सब ओर (वरीवर्ति) घूमता रहता है और (अपः) आकाश को (वसानः) ढकते हुये (कः उ) कर्ता परमेश्वर ने ही (तत्) उसे (चिकेत) जाना है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस सृष्टिकर्ता ने मनुष्य को वेद आदि शास्त्रों के सूक्ष्म विचार जानने और प्रकाश करने के लिये जीभ दी है, वह परमात्मा सब स्थानों में व्यापक है ॥७॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ॥
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥

मस्तिष्कम् । अस्य । यतमः । ललाटम् । ककाटिकाम् । प्रथमः । यः । कपालम् ॥ चित्वा । चित्यम् । हन्वोः । पुरुषस्य । दिवम् । रुरोह । कतमः । सः । देवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यतमः) जौनसा (प्रथमः) सब से पहिला (यः) नियन्ता (अस्य) इस (पुरुषस्य) मनुष्य के (मस्तिष्कम्) भेजे को, (ललाटम्) ललाट [माथे] को, (ककाटिकाम्) ककाटिका [शिर के पिछले भाग] को, (कपालम्) कपाल [खोपड़ी] को और (हन्वोः) दोनों जावड़ों के (चित्यम्) संचय को (चित्वा) संचय करके [वर्तमान है], (सः) वह (कतमः) कौन सा (देवः) देव [स्तुति योग्य] (दिवम्) प्रकाश को (रुरोह) चढ़ा है ॥ ८ ॥

(अन्तः) मध्ये (अपः) आपः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । आकाशम् (वसानः) आच्छादयन् (कः) म० ५ । कर्ता (उ) एव (तत्) (चिकेत) जज्ञौ ॥

८—(मस्तिष्कम्) अ० २ । ३३ । १ । मस्तकस्नेहम् (अस्य) मनुष्यस्य (यतमः) वहूनां मध्ये यः (ललाटम्) अ० ६ । ७ । १ । भ्रुवोरूर्ध्वभागम् । भालम् (ककाटिकाम्) क + कट गतौ—घञ्, स्वार्थे कप्रत्ययः, टाप्, अकारस्य इत्वम् । के शिरसि काटो गतिर्यस्याः ककाटिका ताम् । शिरःपश्चाद्भागम् (प्रथमः) (यः) यम्-ड । नियन्ता (कपालम्) अ० ६ । ८ । २२ । शिरोऽस्थि (चित्वा) चयनं कृत्वा (चित्यम्) चिञ् चयने—क्यप्, तुक् । चयनम् (हन्वोः) म० ७ । (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (दिवम्) प्रकाशम् (रुरोह) आरूढवान् (कतमः) वहूनां मध्ये कः (सः) (देवः) स्तुत्यः ॥

भावार्थ—प्रश्न है कि जिसने मनुष्य देह के अति सुखदायी अंग बनाये हैं, वह सब में कौन सा प्रकाशमान देव है ॥ ८ ॥

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

प्रिय-अप्रियाणि । बहुला । स्वप्नम् । संबाध-तन्द्र्यः ॥ आ-नन्दान् । उग्रः । नन्दान् । च । कस्मात् । वहति । पुरुषः ॥९॥

भाषार्थ—(बहुला) बहुत से (प्रियाप्रियाणि) प्रिय और अप्रिय कर्मों, (स्वप्नम्) सोने, (संबाधतन्द्र्यः) बाधाओं और थकावटों, (आनन्दान्) आनन्दों, (च) और (नन्दान्) हर्षों को (उग्रः) प्रचण्ड (पुरुषः) मनुष्य (कस्मात्) किस [कारण] से (वहति) पाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—अब प्रश्न है कि भलाई बुराई, सुख दुःख आदि मनुष्य किस कारण से पाता है ॥ ९ ॥

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥ (४)

आर्तिः । अवर्तिः । निः-ऋतिः । कुतः । नु । पुरुषे । अमतिः ॥ राद्धिः । सम्-ऋद्धिः । अवि-ऋद्धिः । मतिः । उत्-इतयः । कुतः ॥१०(४)

भाषार्थ—(पुरुषे) मनुष्य में (नु) अब (आर्तिः) पीड़ा, (अवर्तिः)

९—(प्रियाप्रियाणि) हिताहितानि कर्माणि (बहुला) बहूनि (स्वप्नम्) निद्राम् (संबाधतन्द्र्यः) बाधृ प्रतिघाते-घञ् । वङ्क्यादयश्च । उ० ४ । ६६ । तदि मोहे—क्रिन्, ङीप्, यद्वा, तद्रि अवसादे मोहे च—इन्, ङीष् । द्वितीया स्थाने प्रथमा । प्रतिरोधान् आलस्यान् च (आनन्दान्) प्रमोदान् (उग्रः) प्रचण्डः (नन्दान्) हर्षान् (च) (कस्मात्) कारणात् (वहति) प्राप्नोति (पुरुषः) मनुष्यः ॥

१०—(आर्तिः) अ० ३ । ३१ । २ । पीडा (अवर्तिः) अ० ४ । ३४ । ३ । दरिद्रता (निर्ऋतिः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ (कुतः)

दरिद्रता, (निर्ऋतिः) महामारी और (अमतिः) कुमति (कुतः) कहां से [हैं]। (राद्धिः) पूर्णता, (समृद्धिः) सम्पत्ति, (अव्यृद्धिः) अन्यूनता, (मतिः) बुद्धि और (उदितयः) उदय क्रियायें (कुतः) कहां से [हैं] ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दुःख सुख, हानि लाभ, कुमति सुमति आदि के कारणों को विचारता रहे ॥ १० ॥

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

कः । अस्मिन् । आपः । वि । अदधात् । विषु-वृतः । पुरु-वृतः । सिन्धु-सृत्याय । जाताः ॥ तीव्राः । अरुणाः । लोहिनीः । ताम्रधूम्राः । ऊर्ध्वाः । अवाचीः । पुरुषे । तिरश्चीः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(कः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (अस्मिन् पुरुषे) इस मनुष्य में (विपुवृतः) नाना प्रकार घूमने वाले, (पुरुवृतः) बहुत घूमने वाले, (सिन्धुसृत्याय) समुद्र समान बहने के लिये (जाताः) उत्पन्न हुये, (तीव्राः) तीव्र [शीघ्रगामी], (अरुणाः) बैंगनी, (लोहिनीः) लाल वर्णवाले (ताम्रधूम्राः) तांबे समान धूयें के वर्ण वाले, (ऊर्ध्वाः) ऊपर जानेवाले, (अवाचीः)

कस्मात् स्थानात् (नु) सम्प्रति (पुरुषे) मनुष्ये (अमतिः) दुर्मतिः (राद्धिः) राध संसिद्धौ—क्तिन्। संसिद्धिः। पूर्णता (समृद्धिः) सम्पत्तिः (अव्यृद्धिः) ऋद्धिर्वृद्धिः, विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिर्न्यूनता, न व्यृद्धिः अन्यूनता (मतिः) बुद्धि (उदितयः) उत्+इण् गतौ—क्तिन्। उदयक्रियाः (कुतः) ॥

११—(कः) म० ५। कर्ता प्रजापतिः (अस्मिन्) (आपः) अपः। जलानि रुधिररूपाणि (व्यदधात्) कृतवान् (विपुवृतः) नानारूपेण वर्तमानाः (पुरुवृतः) बहुवर्तनशीलाः (सिन्धुसृत्याय) सृ गतौ—क्यप्, तुक्। समुद्रवद् गमनाय (जाताः) उत्पन्नाः (तीव्राः) शीघ्रगतीः (अरुणाः) कृष्णमिश्रित-रक्तवर्णाः (लोहिनीः) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः। पा० ४। १। ३६। लोहित-

नीचे की ओर चलने वाले और (तिरश्चीः) तिरछे बहने वाले (आपः=अपः) जलों [रुधिर धाराओं] को (वि अदधात्) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य शरीर में रुधिर के सञ्चार के लिये नाना वर्ण अनेक स्थूल सूक्ष्म नाड़ियां बनाई हैं जिसके कारण से मनुष्य अनेक चेष्टायें करके अपने मनोरथ सिद्ध करता है ॥ ११ ॥

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥

कः । अस्मिन् । रूपम् । अदधात् । कः । मह्मानम् । च । नाम । च ॥ गातुम् । कः । अस्मिन् । कः । केतुम् । कः । चरित्राणि । पुरुषे ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [परमेश्वर] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (रूपम्) रूप, (कः) कर्ता ने (मह्मानम्) महत्त्व (च) और (नाम) नाम (च) भी (अदधात्) रक्खा है, (कः) कर्ता ने (अस्मिन्) इस (पुरुषे) मनुष्य में (गातुम्) गति [प्रवृत्ति], (कः) कर्ता ने (केतुम्) विज्ञान (च) और (चरित्राणि) अनेक आचरणों को [रक्खा है] ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी न्याय व्यवस्था से मनुष्य में पराक्रम करने के लिये अनेक शक्तियां दी हैं ॥ १२ ॥

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

ङीप्, तस्य नश्च । रक्तवर्णाः (ताम्रधूम्राः) ताम्रधूम्रवर्णाः (ऊर्ध्वाः) उपरिगतीः (अवाचीः) अधोगतिशीलाः (पुरुषे) मनुष्ये (तिरश्चीः) तिर्यग्गतियुक्ताः ॥

१२—(कः) म० ५ । कर्ता वेधाः (मह्मानम्) म० ६ । महत्त्वम् (गातुम्) गतिम् । प्रवृत्तिम् (केतुम्) विज्ञानम् (चरित्राणि) आचरणानि (पुरुषे) मनुष्ये । अन्यत् सरलम् ॥

कः । अस्मिन् । प्राणम् । अवयत् । कः । अपानम् । वि-आनम् । ऊं इति ॥ सम्-आनम् । अस्मिन् । कः । देवः । अधि । शिश्राय । पुरुषे ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [प्रजापति] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (प्राणम्) प्राण [भीतर जाने वाले श्वास] को, (कः) प्रजापति ने (अपानम्) अपान [बाहिर आने वाले श्वास] को (उ) और (व्यानम्) व्यान [सब शरीर में घूमने वाले वायु] को (अवयत्) बुना है । (देवः) देव [स्तुति योग्य] (कः) प्रजापति ने (अस्मिन्) इस (पुरुषे) मनुष्य में (समानम्) समान [हृदयस्थ वायु] को (अधि शिश्राय) ठहराया है ॥ १३॥

भावार्थ—परमेश्वर ने शरीर में प्राण आदि वायु का ताना तानकर मनुष्य को प्रबल बनाया है ॥ १३ ॥

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

कः । अस्मिन् । यज्ञम् । अदधात् । एकः । देवः । अधि । पुरुषे ॥ कः । अस्मिन् । सत्यम् । कः । अनृतम् । कुतः । मृत्युः । कुतः । अमृतम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(कः) किस (एकः) एक (देवः) देव [स्तुति योग्य] ने (अस्मिन् पुरुषे) इस मनुष्य में (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और

१३—(कः) म० ५ । कर्ता । प्रजापतिः (अस्मिन्) मनुष्ये (प्राणम्) अ० २ । १६ । १ । प्र + अन जीवने-घञ् । अन्तर्मुखश्वासम् (अवयत) वेञ् तन्तुसन्ताने-लङ् । तन्तुवत् प्रसारितवान् (कः) (अपानम्) बहिर्मुखश्वासम् (व्यानम्) वि + अन-घञ् । सर्वशरीरव्यापकं वायुम् (उ) अपि (समानम्) हृदयस्थवायुम् (अस्मिन्) (कः) (देवः) स्तुत्यः (अधि शिश्राय) आश्रितवान् । स्थापितवान् (पुरुषे) मनुष्ये ॥

१४—(कः) प्रश्ने (अस्मिन्) (यज्ञम्) देवपूजासङ्गतिकरणदानसामर्थ्यम् (अदधात) धृतवान् (एकः) (देवः) स्तुत्यः (अधि) (पुरुषे) मनुष्ये

दान सामर्थ्य] को, (कः) किस ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (सत्यम्) सत्य [विधि] को, (कः) किस ने (अनृतम्) असत्य [निषेध] को (अधि अदधात्) रख दिया है। (कुतः) कहां से (मृत्युः) मृत्यु और (कुतः) कहां से (अमृतम्) अमरपन [आता है] ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विधि और निषेध के मर्म को समझकर शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाने में प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

कः । अस्मै । वासः । परि । अदधात् । कः । अस्य । आयुः । अकल्पयत् ॥ बलम् । कः । अस्मै । प्र । अयच्छत् । कः । अस्य । अकल्पयत् । जवम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(कः) विधाता [परमेश्वर] ने (अस्मै) इस [मनुष्य] को (वासः) निवास स्थान (परि) सब ओर से (अदधात्) दिया है, (कः) विधाता ने (अस्य) इस [मनुष्य] का (आयुः) आयु [जीवन काल] (अकल्पयत्) बनाया है । (कः) विधाता ने (अस्मै) इस [मनुष्य] को (बलम्) बल (प्र अयच्छत्) दिया है, (कः) विधाता ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (जवम्) वेग को (अकल्पयत्) रचा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के पुरुषार्थ अनुसार उसे उन्नति के अनेक साधन दिये हैं ॥ १५ ॥

(कः) (अस्मिन्) (सत्यम्) वेदविहितं कर्म (कः) (अनृतम्) वेदनिषिद्धं कर्म (कुतः) कस्मात् स्थानात् (मृत्युः) मरणम् (कुतः) (अमृतम्) अमरणम् ॥

१५—(कः) म० ५ । विधाता (अस्मै) मनुष्याय (वासः) वसेर्णित् । उ० ४ । ११८ । वस निवासे आच्छादने च-असुन्, णित् । निवासस्थानम् । वस्त्रम् (परि) सर्वतः (अदधात्) धृतवान् (कः) (अस्य) मनुष्यस्य (आयुः) जीवन कालम् (अकल्पयत्) रचितवान् (बलम्) सामर्थ्यम् (कः) परमेश्वरः (प्रायच्छत्) दत्तवान् (कः) (अस्य) (अकल्पयत्) (जवम्) वेगम् ॥

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ॥
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

केन । आपः । अनु । अतनुत । केन । अहः । अकरोत् । रुचे ॥
उषसम् । केन । अनु । ऐन्द्ध । केन । सायम्-भवम् । ददे ॥१६॥

भाषार्थ—(केन) किस [सामर्थ्य] से उस [परमेश्वर] ने (आपः) जल को (अनु) लगातार (अतनुत) फैलाया है, (केन) किस [सामर्थ्य] से (अहः) दिन (रुचे) चमकने के लिये (अकरोत्) बनाया है। (केन) किस [सामर्थ्य] से उसने (उषसम्) प्रभात को (अनु) लगातार (ऐन्द्ध) चमकाया है, (केन) किस [सामर्थ्य] से उसने (सायंभवम्) सायंकाल की सत्ता को (ददे) दिया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को जानना चाहिये कि परमेश्वर ने किस सामर्थ्य से यह सृष्टि रची है ॥ १६ ॥

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥

कः । अस्मिन् । रेतः । नि । अदधात् । तन्तुः । आ । तायताम् । इति ॥ मेधाम् । कः । अस्मिन् । अधि । औहत् । कः । बाणम् । कः । नृतः । दधौ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (रेतः) पराक्रम [इस लिये] (नि) निरन्तर (अदधात्) रख दिया है

---

१६ (केन) सामर्थ्येन (आपः) अपः । जलानि (अनु) निरन्तरम् (अतनुत) विस्तारितवान् (केन) (अहः) दिनम् (अकरोत्) अरचयत् (रुचे) दीप्तये (उषसम्) प्रभातवेलाम् (केन) (अनु) अनुक्रमेण (ऐन्द्ध) ञि इन्धी दीप्तौ-लङ्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रदीपितवान् (केन) (सायंभवम्) सायंकालसत्ताम् (ददे) दत्तवान् ॥

१७—(कः) म० ५ । प्रजापतिः (अस्मिन्) मनुष्ये (रेतः) पराक्रमम् (नि) निरन्तरम् (अदधात्) दत्तवान् (तन्तुः) सूत्रवद् विस्तारः (आ) समन्तात्

[कि उस का] (तन्तुः) तन्तु [तांता] (आ) चारों ओर (तायताम् इति) फैले। (कः) प्रजापति ने (मेधाम्) बुद्धि (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (अधि औहत्) लाकर दी है, (कः) प्रजापति ने (वाणम्) बोलना और (कः) प्रजापति ने (नृतः) नृत [शरीर चलाना] (दधौ) दिया है ॥१७॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य को पराक्रम, बुद्धि आदि इस लिये दिये हैं कि मनुष्य सब से यथावत् उपकार लेकर आगे बढ़े ॥ १७॥

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

केन । इमाम् । भूमिम् । और्णोत् । केन । परि । अभवत् । दिवम् ॥
केन । अभि । मह्ना । पर्वतान् । केन । कर्माणि । पुरुषः ॥१८॥

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य ने (केन) प्रजापति [परमेश्वर] द्वारा (इमाम् भूमिम्) इस भूमि को (और्णोत्) ढका है, (केन) प्रजापति द्वारा (दिवम्) आकाश को (परि अभवत्) घेरा है। (केन) प्रजापति द्वारा (मह्ना) [अपनी] महिमा से (पर्वतान्) पर्वतों और (केन) प्रजापति द्वारा (कर्माणि) रचे हुये वस्तुओं को (अभि=अभि अभवत्) वश में किया है॥ १८॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना से विवेक और आत्मिक बल द्वारा सृष्टि के सब पदार्थों को वश में करे ॥ १८ ॥

(तायताम्) तनोतेर्यकि । पा०६ । ४ । ४४ । आकारोऽन्तादेशो वा । तन्यताम् । विस्तीर्यताम् (इति) वाक्यसमाप्तौ (मेधाम्) प्रज्ञाम् (कः) (अस्मिन्) (अधि) उपरि (औहत्) वह प्रापणे लङि छान्दसं रूपम् । अवहत् । प्रापितवान् (कः) (वाणम्) वण शब्दे—घञ् । वाणीम् (कः) (नृतः) अयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १६४ । नृती गात्रविक्षेपे—असुन्, कित् । देहचालनम् (दधौ) ददौ ॥

१८—(केन) म० ५ । कर्त्ता प्रजापतिना सह (इमाम्) (भूमिम्) (और्णोत्) आच्छादितवान् (केन) परमेश्वरेण (परि अभवत्) सर्वतो व्याप्तवान् (दिवम्) आकाशम् (केन) (अभि) अभ्यभवत् । व्याप्तवान् (मह्ना) महिम्ना (पर्वतान्) शैलान् (केन) (कर्माणि) कृतानि रचितानि वस्तूनि (पुरुषः) मनुष्यः ॥

केन॑ प॒र्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम् ।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न् निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १८ ॥
केन॑ । प॒र्जन्य॑म् । अनु॑ । ए॒ति॒ । केन॑ । सोम॑म् । वि॒-च॒क्ष॒णम् ॥
केन॑ । य॒ज्ञम् । च॒ । श्र॒द्धाम् । च॒ । केन॑ । अ॒स्मि॒न् । नि-हि॑-तम् । मनः॑ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (केन) प्रजापति [परमेश्वर] द्वारा (पर्जन्यम्) सींचने वाले [मेघ] को, (केन) प्रजापति द्वारा (विचक्षणम्) दर्शनीय (सोमम्) अमृत रस को, (केन) प्रजापति द्वारा (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण और दान] (च) और (श्रद्धाम्) श्रद्धा [सत्य धारण सामर्थ्य] को (च) भी, और (केन) प्रजापति द्वारा (अस्मिन्) इस [शरीर] में (निहितम्) रक्खे हुये (मनः) मन को (अनु) लगातार (एति) पाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आराधना से अनेक सामर्थ्य प्राप्त करके अपने और दूसरों के मन को वश में करता है ॥ १६ ॥

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ॥
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥ (५)
केन॑ । श्रोत्रि॑यम् । आ॒प्नो॒ति॒ । केन॑ । इ॒मम् । प॒र॒मे॒-स्थिन॑म् ॥
केन॑ । इ॒मम् । अ॒ग्निम् । पुरु॑षः । केन॑ । स॒म्-व॒त्स॒रम् । म॒मे॒ २०(५

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य (केन) किसके द्वारा (श्रोत्रियम्) वेदज्ञानी [आचार्य] को, (केन) किसके द्वारा (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) सब

१६—(केन) प्रजापतिना (पर्जन्यम्) सेचकं मेघम् (अनु) निरन्तरम् (एति) प्राप्नोति (केन) (सोमम्) अमृतरसम् (विचक्षणं) दर्शनीयं (केन) (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानसामर्थ्यम् (च) (श्रद्धाम्) सत्यधारणशक्तिम् (च) (केन) (अस्मिन्) दृश्यमाने शरीरे (निहितम्) धृतम् (मनः) अन्तःकरणम् ॥

२०—(केन) द्वारा (श्रोत्रियम्) अ० ६ । ६ (३) । ७ । वेदज्ञमाचार्य्यम्

से ऊंचे ठहरने वाले [परमेश्वर] को (आप्नोति) पाता है। उसने (केन) किसके द्वारा (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [सूर्य, बिजुली और पार्थिव अग्नि] को, (केन) किसके द्वारा (संवत्सरम्) संवत्सर [अर्थात् काल] को (ममे) मापा है ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य विचारता रहे कि वह किस प्रकार से आचार्य और परमेश्वर की आज्ञा पूरण कर सकता है और सूर्य आदि पदार्थों से कैसे उपकार ले सकता है। इसका उत्तर आगामी मन्त्र में है ॥ २० ॥

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

ब्रह्म । श्रोत्रियम् । आप्नोति । ब्रह्म । इमम् । परमे-स्थिनम् ॥
ब्रह्म । इमम् । अग्निम् । पुरुषः । ब्रह्म । सम्-वत्सरम् । ममे ॥२१॥

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य (ब्रह्म=ब्रह्मणा) ब्रह्म [वेद] द्वारा (श्रोत्रियम्) वेदज्ञानी [आचार्य] को और (ब्रह्म) वेद द्वारा (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) सबसे ऊपर ठहरने वाले [परमात्मा] को (आप्नोति) पाता है। उस [मनुष्य] ने (ब्रह्म) वेद द्वारा (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [सूर्य, बिजुली और पार्थिव अग्नि] को, (ब्रह्म) वेद द्वारा (संवत्सरम्) संवत्सर [अर्थात् काल] को (ममे) मापा है ॥ २१ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है। मनुष्य वेद द्वारा आचार्य और परमेश्वर की आज्ञा पालन करे और सूर्य और काल आदि से उपकार लेवे ॥ २१॥

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २२ ॥

(आप्नोति) प्राप्नोति (केन) (परमेष्ठिनम्) अ० १ । ७ । २ । उत्तमपदस्थं परमात्मानम् (केन) (इमम्) (अग्निम्) सूर्यविद्युत्पार्थिवाग्निरूपम् (पुरुषः) मनुष्यः (केन) (संवत्सरम्) कालमित्यर्थः (ममे) माङ् माने-लिट् । मापितवान् । वशीकृतवान् ॥

२१—(ब्रह्म) सुपां सुलुक् । पा० ७ । १ । ३९ । तृतीयार्थे सुः । ब्रह्मणा । वेदज्ञानेन । परमेश्वरेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० २० ॥

केन॑ । दे॒वान् । अनु॑ । क्षि॒य॒ति॒ । केन॑ । दैव॑-जनीः । विशः॑ ॥
केन॑ । इ॒दम् । अ॒न्यत् । नक्ष॑त्रम् । केन॑ । सत् । क्ष॒त्रम् । उ॒च्य॒ते॒ २२

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (केन) किस के द्वारा (देवान्) स्तुति योग्य गुणों, और (केन) किस के द्वारा (दैवजनीः) दैव [पूर्वजन्मके अर्जित कर्म] से उत्पन्न (विशः अनु) मनुष्यों में (क्षियति) रहता है। (केन) किस के द्वारा (इदम्) यह (सत्) सत्य (क्षत्रम्) राज्य, और (केन) किसके द्वारा (अन्यत्) दूसरा [भिन्न] (नक्षत्रम्) अराज्य (उच्यते) बताया जाता है २२

भावार्थ—विचारशील मनुष्य उत्तम गुणों और उत्तम लोगों से मिलने, धर्मयुक्त राज्य की विधि और अधर्म युक्त कुराज्य के निषेध पर विचार करे। इस का उत्तर आगामी मन्त्र में है ॥ २२ ॥

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

ब्रह्म॑ । दे॒वान् । अनु॑ । क्षि॒य॒ति॒ । ब्रह्म॑ । दैव॑-जनीः । विशः॑ ॥
ब्रह्म॑ । इ॒दम् । अ॒न्यत् । नक्ष॑त्रम् ब्रह्म॑ । सत् । क्ष॒त्रम् । उ॒च्य॒ते॒॥२३

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (ब्रह्म=ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमेश्वर] द्वारा (देवान्) स्तुति योग्य गुणों, और (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (दैवजनीः) दैव [पूर्व-जन्म के अर्जित कर्म] से उत्पन्न (विशः अनु) मनुष्यों में (क्षियति) रहता है। (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (इदम्) यह (सत्) सत्य (क्षत्रम्) राज्य और (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (अन्यत्) दूसरा [भिन्न] (नक्षत्रम्) अराज्य (उच्यते) बताया जाता है ॥ २३ ॥

२२—(केन) केन द्वारा (देवान्) दिव्यगुणान् (अनु) अनुलक्ष्य (क्षियति) निवसति (केन) (दैवजनीः) देवाद् यञञौ। वा० पा० ४।१।८५। देव—अञ्। दैवात् पूर्वजन्मार्जितकर्मणो जाताः (विशः) प्रजाः। मनुष्यान्-निघ० २।३ (केन) (इदम्) प्रत्यक्षम् (अन्यत्) भिन्नम् (नक्षत्रम्) नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या०। पा० ६।३।७५। इति नञः प्रकृतिभावः नक्षत्रम् अक्षत्रम् अराज्यं कुराज्यम् (केन) (सत्) सत्यम्। धर्म्यम् (क्षत्रम्) राज्यम् (उच्यते) कथ्यते ॥

२३—(ब्रह्म) सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। विभक्तेः सुः। ब्रह्मणा। परमेश्वरद्वारा। अन्यत् पूर्ववत्—मन्त्र २२ ॥

भावार्थ –यह गत मन्त्र का उत्तर है। मनुष्य परमेश्वर से वेदद्वारा उत्तम गुणों उत्तम लोगों को पावे और वेद द्वारा ही धर्म्म राज्य की विधि और अधर्म्म कुराज्य का निषेध सीखे ॥ २३ ॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥

केन । इयम् । भूमिः । वि-हिता । केन । द्यौः । उत्-तरा । हिता ॥ केन । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः । हितम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(केन) किस करके (इयम् भूमिः) यह भूमि (विहिता) सुधारी गई है, (केन) किस करके (द्यौः) सूर्य (उत्तरा) ऊंचा (हिता) धरा गया है। (च) और (इदम्) यह (ऊर्ध्वम्) ऊंचा, (तिर्यक्) तिरछा, चलने वाला (व्यचः) फैला हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [आकाश] (हितम्) धरा गया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जिज्ञासु के लिये इन प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्रों में है ॥२४

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मणा । भूमिः । वि-हिता । ब्रह्म । द्यौः । उत्-तरा । हिता ॥ ब्रह्म । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः । हितम् ॥ २५ ॥

२४—(केन) प्रश्ने (इयम्) (भूमिः) (विहिता) विशेषेण धारिता (केन) (द्यौः) सूर्यः (उत्तरा) उपरिभवा (हिता) धृतः (केन) (इदम्) (ऊर्ध्वम्) उपरिस्थम् (तिर्यक्) वक्रगामि (च) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (व्यचः) विस्तृतम् (हितम्) धृतम् ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमेश्वर] करके (भूमिः) भूमि (विहिता) सुधारी गयी है, (ब्रह्म) ब्रह्म करके (द्यौः) सूर्य (उत्तरा) ऊंचा (हिता) धरा गया है। (च) और (ब्रह्म) ब्रह्म करके (इदम्) यह (ऊर्ध्वम्) ऊंचा, (तिर्यक्) तिरछा चलने वाला, (व्यचः) फैला हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [आकाश] (हितम्) धरा गया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—ब्रह्म परमेश्वर ने सब ऊंचे, नीचे और मध्यलोक बनाये हैं २५

मूर्धानमस्य संसीव्यार्थर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

मूर्धानम् । अस्य । सम्-सीव्य । अथर्वा । हृदयम् । च । यत् ॥ मस्तिष्कात् । ऊर्ध्वः । प्र । ऐरयत् । पवमानः । अधि । शीर्षतः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) शुद्ध स्वभाव (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (अस्य) इस [मनुष्य] के (मूर्धानम्) शिर (च) और (यत्) जो कुछ (हृदयम्) हृदय है [उसको भी] (संसीव्य) आपस में सींकर, (मस्तिष्कात्) भेजे [मस्तक बल] से (ऊर्ध्वः) ऊपर होकर (शीर्षतः अधि) शिर से ऊपर (प्र ऐरयत्) बाहिर निकल गया ॥ २६ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य के शिर और हृदय को नाड़ियों द्वारा आपस में मिलाकर विवेक सामर्थ्य दिया है। परन्तु वह आप अनन्त अनादि सर्व शक्तिमान् होकर मनुष्य की समझ से बाहिर है ॥ २६ ॥

२५—(ब्रह्मणा) परमेश्वरेण (ब्रह्म) म०२३। ब्रह्मणा। अन्यत् पूर्ववत्मन्त्रे २४

२६—(मूर्धानम्) अ० ३। ६। ६। मस्तकम् (अस्य) मनुष्यस्य (संसीव्य) सम्+षिवु तन्तुसन्ताने-ल्यप्। संवाय। तन्तुभिर्नाडिभिर्यथा संगतं कृत्वा (अथर्वा) अ० ४। १। ७। अ+थर्व चरणे=गतौ-वनिप्। अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११। १८। निश्चलः परमात्मा (हृदयम्) (च) (यत्) (मस्तिष्कात्) अ० २। ३३। १। मस्तकस्नेहात्। मस्तकबलात् (ऊर्ध्वः) (प्र) बहिः (ऐरयत्) आगच्छत् (पवमानः) अ० ३। ३१। २। शुद्धस्वभावः (अधि) उपरि (शीर्षतः) मस्तकात् ॥

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

तत् । वै । अथर्वणः । शिरः । देव-कोशः । सम्-उब्जितः ॥
तत् । प्राणः । अभि । रक्षति । शिरः । अन्नम् । अथो इति । मनः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(तत् वै) वही (शिरः) शिर (अथर्वणः) निश्चल परमात्मा के (देवकोशः) उत्तम गुणों का भण्डार [भाण्डागार] (समुब्जितः) ठीक ठीक बना है। (तत्) उस (शिरः) शिर की (प्राणः) प्राण [जीवन वायु] (अभि) सब ओर से (रक्षति) रक्षा करता है, (अन्नम्) अन्न (अथो) और (मनः) मन [रक्षा करता है] ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य शिर के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाकर परमात्मा की सत्ता का सूक्ष्म विचार करता है। वह शिर प्राण, अन्न और मन द्वारा रक्षित रहता है ॥ २७ ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

ऊर्ध्वः । नु । सृष्टा३ः । तिर्यङ् । नु । सृष्टा३ः । सर्वाः । दिशः । पुरुषः । आ । बभूवाँ३ ॥ पुरम् । यः । ब्रह्मणः । वेद । यस्याः । पुरुषः । उच्यते ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(नु) क्या (ऊर्ध्वः) ऊंचा (सृष्टा ३ः) उत्पन्न होता हुआ और (नु) क्या (तिर्यङ्) तिरछा (सृष्टा ३ः) उत्पन्न होता हुआ (पुरुषः)

२७—(तत्) (वै) एव (अथर्वणः) म० २६। निश्चलपरमेश्वरस्य (शिरः) मस्तकम् (देवकोशः) कुश श्लेषे-घञ्। दिव्यगुणानां भाण्डागारः (समुब्जितः) सम्यक् सरलीकृतः (तत्) प्राणः जीवनवायुः (अभि) सर्वतः (रक्षति) पाति (शिरः) (अन्नम्) (अथो) अपि च (मनः) ॥

२८-(ऊर्ध्वः) उच्चस्थः (नु) प्रश्ने। किम् (सृष्टा ३ः) विचार्य-

वह मनुष्य (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (आ) यथावत् (बभूवा ३) व्यापा है ? (यः) जो [मनुष्य] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (पुरम्) [उस] पूर्ति को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिस [पूर्ति] से [वह परमेश्वर] (पुरुषः) पुरुष [परिपूर्ण] (उच्यते) कहा जाता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि जो योगी परमात्मा को साक्षात् कर लेता है, क्या उसके भीतर सब संसार में व्यापने की शक्ति हो जाती है ? इस का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ २८ ॥

यो वै तां ब्रह्म॑णो वेदा॒मृते॒नावृ॑तां॒ पुर॑म् ।
तस्मै॒ ब्रह्म॑ च ब्रा॒ह्माश्च॒ चक्षुः॑ प्रा॒णं प्र॒जां द॑दुः ॥ २९ ॥

यः । वै । ताम् । ब्रह्म॑णः । वेद॑ । अ॒मृते॑न । आ-वृ॑ताम् । पुर॑म् ॥
तस्मै॑ । ब्रह्म॑ । च॒ । ब्रा॒ह्माः । च॒ । चक्षुः॑ । प्रा॒णम् । प्र॒-जाम् ।
द॒दुः॒ ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(यः)जो [मनुष्य] (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (अमृतेन)अमरपन [मोक्षसुख] से (आवृताम्) छायी

माणानाम् । पा० ८ । २ । ९७ । इति टेः प्लुतः । सम्यक् सृष्टः (तिर्यङ्) वक्रगामी (नु) (सृष्टा ३ः) (सर्वाः) (दिशः) (आ) समन्तात् (बभूवाँ ३) विचार्यमाणनाम् । पा० ८ । २ । ९७ । टेः प्लुतः । अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः । पा० ८ । ४ । ५७ । इत्यनुनासिकः । बभूव । व्याप (पुरम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । उकारादेशः । पूर्तिम् । नगरीम् (यः) योगी (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (वेद) जानाति (यस्याः) पुरः सकाशात् । पूर्तिकारणात् (पुरुषः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगमने—कुषन् । यद्वा, पॄ पालनपूरणयोः—कुषन् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । उकारः । यद्वा पुर् + षद्लृ गतौ, यद्वा, शीङ् स्वप्ने षस स्वप्ने वा—ड, पृषोदरादिरूपम् । पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा–निरु० २ । ३ । अग्रगामी । पूरयिता । परिपूर्णः । परमेश्वरः। मनुष्यः (उच्यते) कथ्यते ॥

२९—(यः) मनुष्यः (वै) निश्चयेन (ताम्) (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (वेद) जानाति (अमृतेन) अमरणेन । मोक्षसुखेन (आवृताम्) आच्छादिताम्

हुई (ताम्) उस (पुरम्) पूर्णता को (वेद) जानता है, (तस्मै) उस [मनुष्य] को (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] (च च) और (ब्राह्माः) ब्रह्म सम्बन्धी बोधों ने (चक्षुः) दृष्टि, (प्राणम्) प्राण [जीवन सामर्थ्य] और (प्रजाम्) प्रजा [मनुष्य आदि] (ददुः) दिये हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष दिव्य दृष्टि वाला और महाबली होकर सब प्रकार से परिपूर्ण होता हुआ आनन्द भोगता है ॥ २९ ॥

न वै तं चक्षु॑र्जहाति॒ न प्रा॒णो ज॒रसः॑ पु॒रा ।
पुरं॒ यो ब्रह्म॑णो वेद॒ यस्याः॒ पुरु॑ष उ॒च्यते॑ ॥ ३० ॥

न । वै । तम् । चक्षुः॑ । ज॒हा॒ति॒ । न । प्रा॒णः । ज॒रसः॑ । पु॒रा ॥
पुर॑म् । यः । ब्रह्म॑णः । वेद॑ । यस्याः॑ । पुरु॑षः । उ॒च्यते॑ ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [मनुष्य] को (न वै) न कभी (चक्षुः) दृष्टि और (न) न (प्राणः) प्राण [जीवनसामर्थ्य (जरसः पुरा) [पुरुषार्थ के] घटाव से पहिले (जहाति) तजता है। (यः) जो मनुष्य (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (पुरम्) [उस] पूर्ति को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिस [पूर्ति] से वह [परमेश्वर] (पुरुषः) पुरुष [परिपूर्ण] (उच्यते) कहा जाता है ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्ण परमात्मा को जानता है, उस मनुष्य में दिव्यदृष्टि और आत्मबल सदा बना रहता है, जब तक वह पुरुषार्थ करता रहता है ॥ ३० ॥

(पुरम्) म० २८। पूर्तिम् (तस्मै) मनुष्याय (ब्रह्म) परमेश्वरः (च) (ब्राह्माः) सास्य देवता। पा० ७। २। २४। ब्रह्मन्–अण्, टिलोपः। ब्रह्मसम्बधिनो बोधाः (च) (चक्षुः) दृष्टिम् (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (प्रजाम्) मनुष्यादिरूपाम् (ददुः) दत्तवन्तः ॥

३०—(न) निषेधे (वै) एव (तम्) मनुष्यम् (चक्षुः) दृष्टिः (जहाति) त्यजति (न) (प्राणः) (जरसः) जरायाः। पुरुषार्थहानेः सकाशात् (पुरा) पूर्वम्। अन्यत्–पूर्ववत्–मन्त्रे २८ ॥

अ॒ष्टाच॑क्रा॒ नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या ।
तस्यां॑ हिर॒ण्ययः॒ कोश॑ः स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः ॥ ३१ ॥
अ॒ष्टा-च॑क्रा । नव॑-द्वारा । दे॒वाना॑म् । पूः । अ॒यो॒ध्या ॥ तस्या॑म् । हि॒र॒ण्ययः॑ । कोशः॑ । स्वः॒-गः । ज्योति॑षा । आ-वृ॑तः ॥ ३१ ॥
तस्मि॑न् हिर॒ण्यये॒ कोशे॒ त्र्य॑रे॒ त्रिप्र॑तिष्ठिते ।
तस्मि॑न् यद् य॒क्षमा॑त्म॒न्वत् तद् वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ३२ ॥
तस्मि॑न् । हि॒र॒ण्यये॑ । कोशे॑ । त्रि-अ॑रे । त्रि-प्र॑तिस्थिते ॥
तस्मि॑न् । यत् । य॒क्षम् । आ॒त्म॒न्-वत् । तत् । वै । ब्र॒ह्म-वि॑दः । वि॒दुः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(अष्टाचक्रा) [योग के अङ्ग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन] आठों का कर्म [वा चक्र] रखनेवाली, (नवद्वारा) [सात मस्तक के छिद्र और मन और बुद्धिरूप] नवद्वार वाली (पूः) पूर्ति [पुरी देह] (देवानाम्) उन्मत्तों के लिये (अयोध्या) अजेय है। (तस्याम्) उस [पूर्ति] में (हिरण्ययः) अनेक बलों से युक्त (कोशः) कोश [भण्डार अर्थात् चेतन जीवात्मा] (स्वर्गः) सुख [सुखस्वरूप परमात्मा] की ओर चलने वाला (ज्योतिषा) ज्योति [प्रकाश स्वरूप ब्रह्म] से (आवृतः) छाया हुआ है ॥ ३१ ॥

३१—(अष्टाचक्रा) करोतेर्घञर्थे—क, द्वित्वम् । चक्रं कर्म रथाङ्गं वा । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योगदर्शने । २ । २९ । इत्यष्टावङ्गानि कर्माणि यस्याः सा (नवद्वारा) मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैर्युक्ता (देवानाम्) दिवु मदे—अच् । उन्मत्तानां मूर्खाणाम् (पूः) म० २८ । पूर्तिपुरी (अयोध्या) अजेया (तस्याम्) पुरि (हिरण्ययः) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि । पा० ६ । ४ । १७५ । मयटो मलोपः । हिरण्यमयः । हिरण्यानि रेतांसि बलानि यस्मिन् सः (कोशः) कुश श्लेषे—घञ् । भाण्डागारः (स्वर्गः) स्वः सुखं गच्छति प्राप्नोतीति यः (ज्योतिषा) प्रकाशस्वरूपेण परमात्मना (आवृतः) आच्छादितः ॥

(तस्मिन् तस्मिन्) उसी ही (हिरण्यये) अनेक बलों से युक्त, (त्र्यरे) [स्थान, नाम, जन्म इन] तीनों में गति वाले, (त्रिप्रतिष्ठिते) [कर्म, उपासना ज्ञान इन] तीनों में प्रतिष्ठा वाले (कोशे) कोश (भण्डार रूप जीवात्मा] में (यत्) जो (यक्षम्) पूजनीय (आत्मन्वत्) आत्मा वाला [महापराक्रमी परब्रह्म] है, (तत् वै) उसको ही (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं ३२

भावार्थ—शरीर की गति को अज्ञानी दुर्बलेन्द्रिय लोग नहीं समझते। शरीर के भीतर चेतन जीवात्मा है। जीवात्मा के बाहिर और भीतर ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म है। उस परब्रह्म को वेदवेत्ता योगीजन साक्षात् करते हैं।३१।३२॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (६)

प्र-भ्राजमानाम्। हरिणीम्। यशसा। सम्-परिवृताम् ॥ पुरम्। हिरण्ययीम्। ब्रह्म। आ। विवेश। अपरा-जिताम् ॥३३॥(६)

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] ने (भ्राजमानाम्) बड़ी प्रकाशमान (हरिणीम्) दुःख हरने वाली (यशसा) यश से (संपरिवृतात्) सर्वथा छायी हुई, (हिरण्ययीम्) अनेक बलों वाली, (अपराजिताम्) कभी न जीती गई (पुरम्) पूर्ति में (आ) सब ओर से (विवेश) प्रवेश किया है॥३३॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष सर्वथा अक्षय परिपूर्ण परमात्मा की उपासना से सदा आनन्द में मग्न रहते हैं॥ ३३॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

३२—(तस्मिन्) हिरण्यये। बलयुक्ते (कोशे) (त्र्यरे) त्रयाणां स्थाननामजन्मनाम् अरो गतिर्यस्मिन् तस्मिन् (त्रिप्रतिष्ठिते) त्रयाणां कर्मोपासना ज्ञानानां प्रतिष्ठायुक्ते (तस्मिन्) (यत्) (यक्षम्) पूजनीयम् (आत्मन्वत्) अ० ४।१०।७। आत्मबलवत्। महापराक्रमयुक्तं परब्रह्म (तत्) ब्रह्म (वै) (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति॥

३३—(प्रभ्राजमानाम्) प्रदीप्यमानाम् (हरिणीम्) हृञ्—इनन्, ङीप्। दुःख हरणशीलाम् (यशसा) कीर्त्या (संपरिवृताम्) समन्तादाच्छादिताम् (पुरम्) म०२८। पूर्तिम् (हिरण्ययीम्) म०३१। हिरण्यय-ङीप्। बलैर्युक्ताम् (ब्रह्म) परमेश्वरः (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान् (अपराजिताम्) अपराभूताम्॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—२५ ॥ वरणो देवता ॥ १, ४, ७, ८, १०, १२ अनुष्टुप्; २, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५ निचृदनुष्टुप्; ८, १३, १४ पथ्या पङ्क्तिः; ११, १६ भुरिगनुष्टुप्; १५, १७—२५ षट्पदा जगती ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्तियों के पाने का उपदेश ॥

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

अयम् । मे । वरणः । मणिः । सपत्न-क्षयणः । वृषा ॥ तेन । आ । रभस्व । त्वम् । शत्रून् । प्र । मृणीहि । दुरस्यतः ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध, अथवा वरना वा वरुण औषध] (मे) मेरे (सपत्नक्षयणः) वैरियों का नाश करने वाला (वृषा) वीर्यवान् है । [हे प्राणी!] (तेन) उस से (त्वम्) तू (शत्रून्) शत्रुओं को (आ रभस्व) पकड़ ले, और (दुरस्यतः) दुराचारियों को (प्र मृणीहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य वरण आदि औषध द्वारा शरीर के रोगों का नाश करता है, वैसे ही विद्वान् वेदविद्या द्वारा आत्मिक दोष मिटावे ॥ १ ॥

१—(अयम्) प्रसिद्धः (मे) मम (वरणः) अ० ६ । ८५ । १ । वृञ् वरणे स्वीकरणे—युच् । स्वीकरणीयः । वेदबोधः । वरुणौषधिर्वा (मणिः) अ० १ । २६ । १ । मण कूजे—इन् । प्रशंसनीयः (सपत्नक्षयणः) शत्रुनाशकः (वृषा) वीर्यवान् (तेन) (आरभस्व) निगृहाण (त्वम्) (शत्रून्) (प्रमृणीहि) सर्वथा मारय (दुरस्यतः) अ० १ । २६ । २ । दुरस्य-शतृ । दुष्टीयतः । अनिष्टं कर्तुमिच्छून् ।

(वरणः) वरण ओषधिविशेष है, उसका वर्णन इस प्रकार है-देखो भाव-प्रकाश, पूर्वखण्ड, वटादिवर्ग, श्लोक ५६ । ५७ ॥

वरुण [के नाम] वरण, सेतु, तिक्तशाक, कुमारक हैं । वरना पित्तकारक, मल भेदक, और कफ़, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वात, गुल्म, वात से उत्पन्न रक्तविकार, और कृमि को मिटाता है,वह उष्ण, अग्निको दीपन करने वाला, कसैला, मधुर कड़वा, चर्परा, रूखा और हलका होता है ॥ १, २ ॥

प्रैणा॑ञ्छृणीहि॒ प्र मृ॒णा र॑भस्व म॒णिस्ते॑ अस्तु पु॒र॒एता पु॒रस्ता॑त् ।
अवा॑रयन्त व॒र॒णेन॑ दे॒वा अ॑भ्याचा॒रमसु॑राणां श्वः श्वः॑ ॥ २ ॥

प्र । ए॒नान् । शृ॒णी॒हि॒ । प्र । मृ॒ण । आ । र॒भ॒स्व॒ । म॒णिः । ते॒ । अ॒स्तु॒ । पु॒रः॒-ए॒ता । पु॒रस्ता॑त् ॥ अवा॑रयन्त । व॒र॒णेन॑ । दे॒वाः । अ॒भि॒-आ॒चा॒रम् । असु॑राणाम् । श्वः॒-श्वः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एनान्) इनको (प्रशृणीहि) कुचलडाल, (प्रमृण) मार डाल, (आ रभस्व) पकड़ले, (मणिः) प्रशंसनीय [वैदिक बोध] (ते) तेरा (पुर एता) अगुआ (पुरस्तात्) साम्हने (अस्तु) होवे । (देवाः) देवताओं [विजयी लोगों] ने (वरणेन) वरण [श्रेष्ठ वैदिक बोध वा वरना औषध) से (असुराणम्) सुर विरोधी [दुष्टों] के (अभ्याचारम्) विरुद्ध आचरण को (श्वः श्वः) एक आगामी कल्यसे दूसरी कल्य को (अर्थात् पहिले से ही] (अवारयन्त) रोका था ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे दूरदर्शी पूर्वज महात्माओं ने उत्तम ज्ञानों और उत्तम औषधों द्वारा आत्मिक और शारीरिक रोग मिटाये हैं, वैसे ही सब मनुष्य उत्तम गुणों और उत्तम ओषधियों के सेवन से उन्नति करें ॥ २ ॥

२—(प्र) प्रकर्षेण (एनान्) शत्रून् (शृणीहि) नाशय (प्र) (मृण) (आरभस्व) (मणिः) (ते) तव (अस्तु) (पुर एता) अग्रगामी (पुरस्तात्) अग्रे (अवारयन्त) निवारितवन्तः (वरणेन) म० १ । स्वीकरणीयेन । वैदिकबोधेन । वरुणौषधेन (देवाः) विजिगीषवः (अभ्याचारम्) विरुद्धाचरणम् (असुराणम्) सुरविरोधिनाम् (श्वः श्वः) आगामिन्यागामिनि दिवसे । पूर्वविचारेणेत्यर्थः ॥

अ॒यं म॒णिर्व॑र॒णो वि॒श्वभे॑षजः सहस्रा॒क्षो हरि॑तो हिर॒ण्ययः॑ । स ते॒ शत्रू॒नध॑रान् पादयाति पू॒र्वस्ता॒न् द॑भ्नुहि॒ ये त्वा॑ द्वि॒षन्ति॑ ॥३॥

अ॒यम् । म॒णिः । व॒र॒णः । वि॒श्व-भे॑षजः । स॒ह॒स्र-अ॒क्षः । हरि॑तः । हि॒र॒ण्ययः॑ ॥ सः । ते॒ । शत्रू॑न् । अध॑रान् । पा॒द॒या॒ति॒ । पूर्वः॑ । ता॒न् । द॒भ्नु॒हि॒ । ये । त्वा॒ । द्वि॒षन्ति॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [वरणीय, मानने योग्य, वैदिक बोध वा वरना औषध] (विश्वभेषजः) समस्त भय जीतने वाला, (सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार वाला, (हरितः) सिंह [समान] (हिरण्ययः) तेजोमय है । (सः) वह (ते) तेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (पादयाति) गिरावे, (पूर्वः) पहिले होकर तू (तान्) उन्हें (दभ्नुहि) दबा ले, (ये) जो (त्वा) तुझसे (द्विषन्ति) बैर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी मनुष्य आत्मिक और शारीरिक रोग मिटाकर स्वस्थ होकर आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

अ॒यं ते॑ कृ॒त्यां वित॑तां॒ पौरु॑षेयाद॒यं भ॒यात् ।
अ॒यं त्वा॒ सर्व॑स्मात् पा॒पाद् व॑र॒णो वा॑रयिष्यते ॥ ४ ॥

अ॒यम् । ते॒ । कृ॒त्याम् । वि-त॑ताम् । पौरु॑षेयात् । अ॒यम् । भ॒यात् ॥ अ॒यम् । त्वा॒ । सर्व॑स्मात् । पा॒पात् । व॒र॒णः । वा॒र॒यि॒ष्य॒ते॒ ॥४॥

भाषार्थ—(अयम् अयम्) यही [वरण] (ते) तेरे लिये (विततास्) फैली हुयी (कृत्याम्) हिंसा को (पौरुषेयात्) मनुष्य से किये हुये (भयात्)

३—(अयम्) (मणिः) प्रशंसनीयः (वरणः) म० १ (विश्वभेषजः) सर्वभयजेता (सहस्राक्षः) अ० । ४ । १६ । ४ । बहुव्यवहारोपेतः (हरितः) सिंहरूपः (हिरण्ययः) तेजोमयः (सः) वरणः (ते) तव (शत्रून्) (अधरान्) नीचान् (पादयाति) पातयेत् (पूर्वः) प्रथमः सन् (तान्) (दभ्नुहि) वशीकुरु (ये) (त्वा) (द्विषन्ति) वैरायन्ते ॥

४—(अयम्) (ते) तुभ्यम् (कृत्याम्) अ० ४ । ९ । ५ । हिंसाम् (विततास्) विस्तृताम् (पौरुषेयात्) अ० ७ । १०५ । १ । पुरुषेण कृतात् (भयात्)

भय से, और (अयम्) यह (वरणः) वरण [वैदिक बोध वा वरना औषध ही] (त्वा) तुझ को (सर्वस्मात्) सब (पापात्) पापसे (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिकज्ञान और पथ्य खान पान से बलवान् होवें ॥४॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

वरणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः ॥ यक्ष्मः । यः । अस्मिन् । आ-विष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः । अवीवरन् ॥५॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणोंका रक्षक (वरणः) वरण [वैदिक बोध वा वरना औषध] [उस राजरोग को] (वारयातै) हटावे (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है, (तम्) उस को (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों ने (अवीवरन्) हटाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज विद्वानों के समान प्रयत्न करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का नाश करे ॥ ५ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् । परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

स्वप्नम् । सुप्त्वा । यदि । पश्यासि । पापम् । मृगः । सृतिम् । यति । धावात् । अजुष्टाम् ॥ परि-क्षवात् । शकुनेः । पाप-वादात् । अयम् । मणिः । वरणः । वारयिष्यते ॥ ६ ॥

दरात् (अयम् (त्वा) सर्वस्मात्) (पापात्) दुःखात् (वरणः) म० १ । वैदिकबोधो वरुणौषधं वा (वारयिष्यते) वृञ् आवरणे—लृट् । प्रतिरोत्स्यति ॥

५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (सुप्त्वा) सोकर (पापम्) बुरे (स्वप्नम्) स्वप्न को (पश्यासि) देखे, (यति=यदि) जो (मृगः) बनैला पशु (अजुष्टाम्) अप्रिय (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) दौड़े। (शकुनेः) पक्षी [गिद्ध वा चील्ह] के (परिक्षवात्) नाक के फुरफुराहट से और (पापवादात्) [मुखके] कठोर शब्दसे (अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर कुस्वप्न आदि रोगों और हिंसक पशुओं और पक्षियों की दुष्टता से निर्भय रहें ॥ ६ ॥

अरा॑त्यास्त्वा॒ निर्ऋ॑त्या अभिचा॒राद॒थो॑ भ॒यात् ।

मृ॒त्योरोजी॑यसो व॒धाद् व॑र॒णो वा॑रयिष्यते ॥ ७ ॥

अरा॑त्याः । त्वा॒ । निः-ऋ॑त्याः । अ॒भि॒-चा॒रात् । अथो॒ इति॑ । भ॒यात् ॥ मृ॒त्योः । ओजी॑यसः । व॒धात् । व॒र॒णः । वा॒र॒यि॒ष्य॒ते॒ ॥ ७

भाषार्थ—(वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तुझ को (अराल्याः) कंजूसी से, (निर्ऋत्याः) महामारी से, (अभिचारात्) विरुद्ध आचरण से, (भयात्) भय से, (मृत्योः) मृत्यु [आलस्य आदि] से (अथो) और (ओजीयसः) अधिक बलवान् के (वधात्) वज्र से (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ७ ॥

६—(स्वप्नम्) सुप्तस्य मानसिकवृत्तिभेदम् (सुप्त्वा) शयित्वा) (यदि) सम्भावनायाम् (पश्यासि) अवलोकेथाः (पापम्) दुःखप्रदम् (मृगः) अरण्यपशुः (सृतिम्) मार्गम् (यति) दस्य तः। यदि (धावात्) शीघ्रं गच्छेत् (अजुष्टाम्) अप्रियाम् (परिक्षवात्) टु क्षु, नासाशब्दे—अप्। नासातो वायुनिःसरणजन्यशब्दात् (शकुनेः) पक्षिणः। गृध्रचिल्हादेः (पापवादात्) दुष्टशब्दात्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

७—(अरात्याः) अ० १। २। २। रा दाने- क्तिन्। अदानात्। कृपणत्वात् (त्वा) (निर्ऋत्याः) अ० २। १०। १। कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् (अभिचारात्) विरुद्धाचरणात् (अथो) अपि च (भयात्) (मृत्योः) मरणात्। आलस्यात् (ओजीयसः) अ० ५। २। ४। बलवत्तरस्य (वधात्) वज्रात्—निघ० २। २०। (वरणः) म० १ (वारयिष्यते) ॥

भावार्थ—मनुष्य विवेकी और बलवान् होकर सब विपत्तियों से बचे ७

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्। ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

यत्। मे। माता। यत्। मे। पिता। भ्रातरः। यत्। च। मे। स्वाः। यत्। एनः। चकृम। वयम्॥ ततः। नः। वारयिष्यते। अयम्। देवः। वनस्पतिः॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (एनः) पाप (मे माता) मेरी माता ने, (यत्) जो कुछ (मे पिता) मेरे पिता ने, (यत्) जो कुछ (मे भ्रातरः) मेरे भाइयों ने (च) और (स्वाः) ज्ञाति वालों ने और (यत्) जो कुछ (वयम्) हमने (चकृम) किया है (ततः) उस से (नः) हमको (अयम्) यह (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक [पदार्थ] (वारयिष्यते) बचावेगा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे अपने बन्धुओं सहित सदा विवेकी और बलवान् रह कर पाप कर्म से बचें ॥ ८ ॥

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूतं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

वरणेन। प्र-व्यथिताः। भ्रातृव्याः। मे। स-बन्धवः॥ असूर्तम्। रजः। अपि। अगुः। ते। यन्तु। अधमम्। तमः॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वरणेन) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] द्वारा (प्रव्यथिताः) पीड़ित किये गये (मे) मेरे (भ्रातृव्याः)

८—(यत्) यत् किञ्चित् (मे) मम (भ्रातरः) सहोदराः (स्वाः) ज्ञातयः (एनः) पापम् (चकृम) कृतवन्तः (ततः) पापात् (नः) अस्मान् (वारयिष्यते) प्रतिरोत्स्यते (अयम्) (देवः) दिव्यगुणः (वनस्पतिः) अ० ६। ८५। १। वननीयानां सेवनीयानां गुणानां पालकः। अन्यत् सुगमम् ॥

९—(वरणेन) म० १। श्रेष्ठेन (प्रव्यथिताः) अतिपीडिताः (भ्रातृव्याः) शत्रवः (मे) मम (सबन्धवः) बान्धवैः सहिताः (असूर्तम्) नक्षत्रनिपत्ता-

वैरी लोग (सबन्धवः) अपने बन्धुओं सहित (असूर्तम्) न जाने योग्य (रजः) लोक [देश] में (अपि) ही (अगुः) गये हैं। (ते) वे लोग (अधमम्) अति नीचे (तमः) अन्धकार में (यन्तु) जावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वनियन्ता परमेश्वर द्वारा और बलवान् राजा की नीति से दुष्ट लोग सदा बन्धीगृह आदि भोगते रहे हैं और सदा भोगते रहें ॥ ६ ॥

अरि॑ष्टो॒ऽहमरि॑ष्टगु॒रायु॑ष्मा॒न्त्सर्व॑पूरुषः ।
तं मा॒यं व॑र॒णो म॒णिः परि॑ पातु दि॒शोदि॑शः ॥ १० ॥ (७)

अरि॑ष्टः । अ॒हम् । अरि॑ष्ट-गुः । आयु॑ष्मान् । सर्व॑-पुरुषः ॥ तम् । मा॒ । अ॒यम् । व॒र॒णः । म॒णिः । परि॑ । पा॒तु॒ । दि॒शः-दि॑शः १०॥ (७)

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अरिष्टः) न हारा हुआ, (अरिष्टगुः) न हारी हुयी विद्या वाला, (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला और (सर्वपुरुषः) सब पुरुषों वाला हूं। (तम्) उस (मा) मुझ को (अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (दिशोदिशः) दिशा दिशा से (परि पातु) सब प्रकार बचावे ॥१०॥

भावार्थ—दृढ़ स्वभाव विद्वान् मनुष्य शरीर से बलवान् होकर परमेश्वर में विश्वास करके परस्पर रक्षा करें ॥ १० ॥

अ॒यं मे॑ व॒र॒ण उर॑सि॒ राजा॑ दे॒वो वन॒स्पतिः॑ ।
स मे॒ शत्रू॒न् वि बा॑धता॒मिन्द्रो॒ दस्यू॑न्निवासु॒रान् ॥ ११ ॥

अ॒यम् । मे॒ । व॒र॒णः । उर॑सि । राजा॑ । दे॒वः । वन॒स्पतिः॑ ॥

नुत्त० । पा० ८ । २ । ६१ । नञ्+सृ गतौ-क, ऋकारस्य उत्वम् । असरणीयमगन्तव्यम् (रजः) लोकम् (अपि) एव (अगुः) प्रापुः (ते) शत्रवः (यन्तु) गच्छन्तु (अधमम्) अतिनीचम् (तमः) अन्धकारम् ॥

१०—(अरिष्टः) अहिंसितः (अहम्) (अरिष्टगुः) गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १ । २ । ४८ । गोर्ह्रस्वः । अहिंसितविद्यः (आयुष्मान्) उत्तमजीवनोपेतः (सर्वपुरुषः) सर्वपुरुषयुक्तः (तम्) तादृशम् (मा) माम् (दिशोदिशः) सर्वस्या दिशायाः सकाशात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सः । मे । शत्रू॑न् । वि । बाधताम् । इन्द्रः॑ । दस्यू॑न्-इव । असु॑रान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (राजा) राजा, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (मे) मेरे (उरसि) हृदय में है। (सः) वह (मे) मेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (वि बाधताम्) हटा देवे, (इव) जैसे (इन्द्रः) इन्द्र [बड़ा ऐश्वर्यवान् पुरुष] (असुरान्) सज्जनों के विरोधी (दस्यून्) डाकुओं को [हटाता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य परमात्मा में श्रद्धा करके आत्मा और शरीर की उन्नति करता हुआ प्रतापी शूरों के समान शत्रुओं का नाश करे ॥ ११ ॥

इमं बि॑भर्मि व॒रणमायु॑ष्माञ्छ॒तशा॑रदः ।
स मे॑ रा॒ष्ट्रं च॑ क्ष॒त्रं च॑ प॒शूनोज॑श्च मे दधत् ॥ १२ ॥

इ॒मम् । बि॒भ॒र्मि॒ । व॒रणम् । आयु॑ष्मान् । श॒त-शा॑रदः ॥ सः मे॒ । रा॒ष्ट्रम् । च॒ । क्ष॒त्रम् । च॒ । प॒शून् । ओजः॑ । च॒ । मे॒ । द॒ध॒त् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला, (शतशारदः) सौ वर्ष जीवन वाला (इमम्) (वरणम्) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] को (बिभर्मि) धारण करता हूं। (सः) वह (मे) मेरे (राष्ट्रम्) राज्य (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय धर्म को (च) और (पशून्) पशुओं (च) और (मे) मेरे (ओजः) बल को (दधत्) पुष्ट करे ॥ १२ ॥

११—(उरसि) हृदये (राजा) ऐश्वर्यवान् (शत्रून्) अरीन् (वि) विशेषेण (बाधताम्) निवारयतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (दस्यून्) चौरान् महासाहसिकान् (इव) यथा (असुरान्) सज्जनविरोधकान् ॥

१२—(इमम्) पूर्वोक्तम् (बिभर्मि) धरामि (वरणम्) म० १। श्रेष्ठम् (आयुष्मान्) (शतशारदः) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्तः (सः) वरणः (मे) मम (राष्ट्रम्) राज्यम् (च) (क्षत्रम्) क्षत्रियधर्मम् (च) (पशून्) (ओजः) बलम् (च) (मे) (दधत्) पोषयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि आत्मिक और शारीरिक बल द्वारा संसार की रक्षा करें ॥ १२ ॥

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा । एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१३॥

यथा । वातः । वनस्पतीन् । वृक्षान् । भनक्ति । ओजसा ॥ एव । स-पत्नान् । मे । भङ्ग्धि । पूर्वान् । जातान् । उत । अपरान् । वरणः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [विना फूल फल देने वाले पीपल आदि] और (वृक्षान्) वृक्षों को (ओजसा) बल से (भनक्ति) तोड़ता है । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़ डाल, (पूर्वान्) पहिले (जातान्) उत्पन्नों (उत) और (अपरान्) पिछलों को । (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥१३॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल से वायु समान शीघ्रगामी होकर दोषों और शत्रुओं का नाश करे ॥ १३ ॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् । एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

यथा । वातः । च । अग्निः । च । वृक्षान् । प्सातः । वनस्पतीन् ॥ एव । स-पत्नान् । मे । प्साहि । पूर्वान् ।० ॥ १४ ॥

१३—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) वायुः (वनस्पतीन्) पुष्पं विना जायमानफलान् अश्वत्थादीन् वृक्षान् (वृक्षान्) स्थावरयोनिविशेषान् विटपान् (भनक्ति) छिनत्ति (ओजसा) बलेन (एव) तथा (सपत्नान्) शत्रून् (मे) मम (भङ्ग्धि) भिन्धि (पूर्वान्) प्रथमान् (जातान्) उत्पन्नान् (उत) अपि (अपरान्) अर्वाचीनान् (वरणः) म० १ । स्वीकरणीयः (त्वा) (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पातु ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (च च) और (अग्निः) अग्नि (वृक्षान्) वृक्षों और (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (प्सातः) खाते हैं। (एव) वैसे ही (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्साहि) खा ले, (पूर्वान्) पहिले.......म० १३ ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १४ ॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः । एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १५ ॥

यथा । वातेन । प्र-क्षीणाः । वृक्षाः । शेरे । नि-अर्पिताः ॥ एव । स-पत्नान् । त्वम् । मम । प्र । क्षिणीहि । नि । अर्पय । पूर्वान् । जातान् । उत । अपरान् । वरणः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातेन) वायु से (प्रक्षीणाः) नष्टकर दिये गये और (न्यर्पिताः) झुकाये हुये (वृक्षाः) वृक्ष (शेरे=शेरते) सो जाते हैं। (एव) वैसे ही (मम) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (त्वम्) तू (प्र क्षिणीहि) नाश कर दे और (नि अर्पय) झुका दे, (पूर्वान्) पहिले (जातान्) उत्पन्नों (उत) और (अपरान्) पिछलों को । (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को शत्रुओं के नाश करने में सदा उद्योग करना चाहिये ॥ १५ ॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ॥
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६ ॥

१४—(प्सातः) भक्षतः (प्साहि) भक्ष । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यथा) (वातेन) वायुना (प्रक्षीणाः) विनाशिताः (वृक्षाः) (शेरे) छान्दसं रूपम् । शेरते । वर्तन्ते (न्यर्पिताः) नीचीकृताः (प्र क्षिणीहि) विनाशय (न्यर्पय) नीचय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तान् । त्वम् । प्र । छिन्द्धि । वरण । पुरा । दिष्टात् । पुरा । आयुषः ॥ ये । एनम् । पशुषु । दिप्सन्ति । ये । च । अस्य । राष्ट्र-दिप्सवः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(वरण) हे वरण ! [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वम्) तू (तान्) उन [शत्रुओं] को (दिष्टात्) नियुक्त [मरण] से (पुरा) पहिले और (आयुषः) आयु [के अन्त] से (पुरा) पहिले (प्र छिन्द्धि) काट डाल । (ये) जो (एनम्) इस [पुरुष] को (पशुषु) पशुओं के निमित्त (दिप्सन्ति) मार डालना चाहते हैं (च) और (ये) जो (अस्य) इसके (राष्ट्रदिप्सवः) राज्य के हानि कारक हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी बुद्धि और बाहुबल से प्रजा और राज्य के हानिकारक शत्रुओं का नाश करे ॥ १६ ॥

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥

यथा । सूर्यः । अति-भाति । यथा । अस्मिन् । तेजः । आ-हितम् ॥ एव । मे । वरणः । मणिः । कीर्तिम् । भूतिम् । नि । यच्छतु । तेजसा । मा । सम् । उक्षतु । यशसा । सम् । अनक्तु । मा ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (अतिभाति) बड़े प्रताप से चम-

१६—(तान्) शत्रून् (त्वम्) (प्र) (छिन्द्धि) भिन्धि (वरण) म० १। हे स्वीकरणीय (पुरा) पूर्वम् (दिष्टात्) नियुक्तात् प्रणयात् (पुरा) (आयुषः) जीवनान्तात् (ये) शत्रवः (एनम्) प्राणिनम् (पशुषु) पशूनां निमित्ते (दिप्सन्ति) दम्भितुं हन्तुमिच्छन्ति (ये) (च) (अस्य) (राष्ट्रदिप्सवः) राज्यं विनाशयितुमिच्छवः ॥

१७—(यथा) (सूर्यः) (अतिभाति) बहुप्रतापेन दीप्यते (यथा)

कता है और (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस [सूर्य] में (तेजः) तेज (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये (मणिः) श्रेष्ठ (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य, वैदिक बोध वा वरना औषध] (कीर्तिम्) कीर्ति और (भूतिम्) विभूति [ऐश्वर्य, सम्पत्ति] को (नि यच्छतु) दृढ़ करे, (तेजसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (उक्षतु) बढ़ावे और (यशसा) यश के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) प्रकाशित करे ॥ १७ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रताप से जगत् में विख्यात है, वैसे ही मनुष्य ईश्वर ज्ञान और शरीर बल से प्रतापी होकर संसार में अपनी कीर्ति बढ़ावे ॥ १७ ॥

यथा यश॑श्च॒न्द्रम॑स्यादि॒त्ये च॑ नृ॒चक्ष॑सि । ए॒वा मे॒० ॥ १८ ॥

यथा॑ । यशः॑ । च॒न्द्रम॑सि । आ॒दि॒त्ये । च॒ । नृ॒-चक्ष॑सि ॥०॥१८॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (च) और (नृचक्षसि) मनुष्यों को देखने वाले (आदित्ये) सूर्य में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......मन्त्र १७ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १७ के समान है ॥ १८ ॥

यथा यशः॑ पृथि॒व्यां यथा॒स्मिन् जा॒तवे॑दसि । ए॒वा० ॥ १९ ॥

यथा॑ । यशः॑ । पृ॒थि॒व्याम् । यथा॑ । अ॒स्मिन् । जा॒त-वे॑दसि ॥०॥१९॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (पृथिव्याम्) पृथिवी में और (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (जातवेदसि) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान

(अस्मिन्) सूर्ये (तेजः) प्रतापः (आहितम्) स्थापितम् (एव) तथा (मे) मह्यम् (वरणः) स० १ । स्वीकरणीयः (मणिः) श्रेष्ठः (कीर्तिम्) विख्यातिम् (भूतिम्) विभूतिम् । सम्पत्तिम् (नि यच्छतु) दृढीकरोतु । नियोजयतु (तेजसा) (मा) माम् (सम्) सम्यक् (उक्षतु) उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ९ । वर्धयतु (यशसा) (सम्) (अनक्तु) अञ्जू कान्तौ । प्रदीपयतु (मा) माम् ॥

१८—(यथा) (यशः) (चन्द्रमसि) चन्द्रमण्डले (आदित्ये) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमाने सूर्ये (च) (नृचक्षसि) मनुष्याणां दर्शके । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१९—(पृथिव्याम्) भूमौ (जातवेदसि) अ० १ । ७ । २ । जातेषु वेदो

[अग्नि] में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये ·····मन्त्र १७ ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १७ के समान है ॥ १९ ॥

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे । एवा० ॥ २० ॥ (८)

यथा । यशः । कन्यायाम् । यथा । अस्मिन् । सम्-भृते । रथे ।०।२०(८)

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (कन्यायाम्) कामना योग्य [कन्या] में और (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (संभृते) सुन्दर बने (रथे) रथ में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये······म० १७ ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे सुशीला गुणवती कन्या से माता पिता आदि कीर्ति पाते हैं और जैसे सुन्दर यान विमान आदि से बनाने वाले की शिल्पविद्या प्रख्यात होती है वैसे ही सब मनुष्य अपनी कीर्ति बढ़ावें ॥ २० ॥

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा० ॥ २१ ॥

यथा । यशः । सोम-पीथे । मधु-पर्के । यथा । यशः ॥०॥ २१ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (सोमपीथे) सोमरस पीने में और (यथा) जैसा (यशः) यश (मधुपर्के) मधुपर्क [मधु, दही, घी, जल और शर्करा के पञ्चमेल वा पञ्चामृत] में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये ······म० १७ ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे सोमरस और मधुपर्क बल बढ़ाने में प्रसिद्ध हैं, वैसेही मनुष्य अपनी कीर्ति फैलावे ॥ २१ ॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा० ॥ २२ ॥

यथा । यशः । अग्नि-होत्रे । वषट्-कारे । यथा । यशः ०॥२२॥

विद्यमानता यस्य तस्मिन् । अग्नौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(कन्यायाम्) अ० १ । १४ । २ । कन दीप्तौ द्युतौ गतौ च-यक्, टाप् । कमनीयायां पुत्र्याम् (संभृते) सम्यक् पोषिते रचिते (रथे) यानविमानादौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(सोमपीथे) पातृतुदिवचि० । उ० २ । ७ । पा पाने पा रक्षणे वा—थक् । सोमरसपाने (मधुपर्के) पृची संपर्चने-घञ् । मधुनः पर्को योगोऽत्र । दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैः पञ्चभिः संयुक्ते पदार्थे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र [अग्नि में सुगन्धित द्रव्य चढ़ाने वा अग्नि का शिल्प विद्या में प्रयोग करने] में और (यथा) जैसा (यशः) यश (वषट्कारे) दान कर्म में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......म० १७ ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे अग्निहोत्र से वायु शुद्धि और शिल्पविद्या की उन्नति होती है और जैसे सुपात्रों को दान देने से कीर्ति बढ़ती है वैसेही मनुष्य अपना यश बढ़ावें ॥ २२ ॥

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा० ॥२३॥

यथा । यशः । यजमाने । यथा । अस्मिन् । यज्ञे । आ-हितम् ।०।२३

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (यजमाने) यजमान [देवपूजक, सङ्गतिकारक और दानी] में और (यथा) जैसा [यश] (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ [देव पूजा, संगतिकरण और दान] में (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......म० १७ । २३ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ २३ ॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा० ॥ २४ ॥

यथा । यशः । प्रजा-पतौ । यथा । अस्मिन् । परमे-स्थिनि ॥०॥२४

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (प्रजापतौ) प्रजापालक [राजा] में और (यथा) जैसा [यश] (अस्मिन्) इस (परमेष्ठिनि) सब से ऊंची स्थिति वाले [परमात्मा] में है। (एव) वैसेही (मे) मेरे लिये...म०१७ ॥२४॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ २४ ॥

२२—(अग्निहोत्रे) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानादनेषु-त्रन् । अग्नौ सुगन्धितद्रव्यदाने, अथवा अग्नेः शिल्पविद्यायां प्रयोगे (वषट्कारे) अ० ५ । २६ । १२ । वह प्रापणे डषटि । दानकर्मणि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२३—(यजमाने) देवपूजकसंगतिकारकदानशीले (यज्ञे) देवपूजासंगतिकारकदानकर्मणि (आहितम्) स्थापितम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२४—(प्रजापतौ) प्रजापालके नृपतौ (परमेष्ठिनि) सर्वोपरिस्थिते परमात्मनि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा मे वरणो मणिः।
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु
मा ॥ २५ ॥ (८)

यथा। देवेषु। अमृतम्। यथा। एषु। सत्यम्। आ-हितम्॥
एव। मे। वरणः। मणिः। कीर्तिम्। भूतिम्। नि। यच्छतु॥
तेजसा। मा। सम्। उक्षतु। यशसा। सम्। अनक्तु। मा २५(८)

भाषार्थ—(यथा) जैसे (देवेषु) विजय चाहने वालों में (अमृतम्) अमरपन [पुरुषार्थ] और (यथा) जैसा (एषु) इनमें (सत्यम्) सत्य (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये (मणिः) श्रेष्ठ (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग वैदिक बोध वा वरना औषध] (कीर्तिम्) कीर्ति और (भूतिम्) विभूति [ऐश्वर्य, सम्पत्ति] को (नि यच्छतु) दृढ़ करे, (तेजसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (उक्षतु) बढ़ावे और (यशसा) यश के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) प्रकाशित करे२५॥

भावार्थ—जैसे विजयी शूरों में पुरुषार्थ और सत्य व्रत धारण होता है वैसे ही मनुष्य ईश्वर ज्ञान और शरीर बल से प्रतापी हो कर संसार में अपनी कीर्ति बढ़ावे ॥ २५ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२६ ॥ इन्द्रः प्रजापतिर्वा देवता॥ १ पथ्यापङ्क्तिः; २ भुरिग्मध्या गायत्री; ३, ४ निचृत् पथ्या बृहती; ५, ६, ७, ६-११, १३—१५, १७-२०, २२, २४, २५ अनुष्टुप्; ८ आर्ष्यनुष्टुप्; १२ भुरिग् गायत्री; १६ प्रतिष्ठा गायत्री; २१ विराडनुष्टुप्; २३ त्रिष्टुप्; २६ आर्षी त्रिष्टुप्॥

सर्परूपदोषनाशोपदेशः—सर्प रूप दोषों के नाश का उपदेश॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥

२५—(देवेषु) विजिगीषुषु शूरेषु (अमृतम्) अमरणम्। पौरुषम् (सत्यम्) सत्यव्रतम्। अन्यत् पूर्ववत् म० १७॥

इन्द्रस्य। प्रथमः। रथः। देवानाम्। अपरः रथः। वरुणस्य। तृतीयः। इत्॥ अहीनाम्। अप-मा। रथः। स्थाणुम्। आरत्। अथ। अर्षत्॥ १॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (प्रथमः) पहिला (रथः) रथ है, (देवानाम्) विजयी [शूर मन्त्रियों] का (अपरः) दूसरा (रथः) रथ, और (वरुणस्य) वरुण [श्रेष्ठ वैद्य] का (तृतीयः) तीसरा (इत्) ही है (अहीनाम्) महाहिंसक [सर्पों] का (अपमा) खोटा (रथः) रथ (स्थाणुम्) ठूंठ [सूखे पेड़] पर (आरत्) पहुंचा है, (अथ) अब (अर्षत्) वह चला जावे॥ १॥

भावार्थ—राजा, मन्त्री और वैद्य के प्रयत्न से सर्परूप कुठौर में वर्तमान दुष्ट लोग और दुष्ट रोग प्रजा में से नष्ट हो जावें॥ १॥

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम्॥ २॥

दर्भः। शोचिः। तरूणकम्। अश्वस्य। वारः। परुषस्य। वारः॥ रथस्य। बन्धुरम्॥ २॥

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (प्रथमः) अग्रगामी (रथः) यानम् (देवानाम्) विजिगीषूणां मन्त्रिणाम् (अपरः) द्वितीयः (रथः) (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य वैद्यस्य (तृतीयः) (इत्) एव (अहीनाम्) अ० २। ५। ५। आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४। १३८। आङ्+हन हिंसागत्योः—इण् डित्, आङो ह्रस्वत्वम्। अहिरयनादेति अन्तरिक्षे, अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसित उपसर्ग आहन्तीति—निरु० २। १७। आहन्तॄणाम्। महाहिंसकानाम्। सर्पाणाम् (अपमा) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। अप+माङ् माने—ड। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। विभक्तेराकारः। अपमः। अवमः। कुत्सितः। नीचः (रथः) (स्थाणुम्) स्थो णुः। उ० ३। ३७। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—णु। निश्चलः। शुष्कवृक्षः (आरत्) ऋ गतौ—लुङ्। अगमत् (अथ) इदानीम् (अर्षत्) ऋषी गतौ—लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इत्यटि गुणश्च। गच्छेत् स रथः॥

भाषार्थ—(दर्भः) दाभ घास [सर्पों का] (शोचिः) प्रकाश, (तरूणकम्) छोटी नवीन [दाभ] [उनके] (अश्वस्य) घोड़े की (वारः) पूंछ (परुषस्य) कड़े [दाभ] की (वारः) पूंछ [सिरा] [उनके] (रथस्य) रथ की (बन्धुरम्) बैठक है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे साँप आदि छिपकर रहते हैं वैसेही चोर आदि दुष्कर्मी छिपे रहते हैं ॥ २ ॥

अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥
अव । श्वेत । पदा । जहि । पूर्वेण । च । अपरेण । च ॥
उदप्लुतम्-इव । दारु । अहीनाम् । अरसम् । विषम् । वाः । उग्रम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(श्वेत) हे प्रवृद्ध [मनुष्य !] तू (पूर्वेण) अगले (च च) और (अपरेण) पिछले (पदा) पाद [पैर की चोट] से (अव जहि) मार डाल । (उदप्लुतम्) जल में बही हुई (दारु इव) लकड़ी के समान (अहीनाम्) सर्पों का (उग्रम्) क्रूर (वाः) जल [अर्थात्] (विषम्) विष (अरसम्) नीरस होवे ॥ ३ ॥

२—(दर्भः) तृणविशेषः । कुशः । काशः (शोचिः)प्रकाशः (तरूणकम्) ह्रस्वे च । पा० ५ । ३ । ८६ । इति कप्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । क्षुद्रनवीनदर्भः (अश्वस्य) घोटकस्य (वारः) बालः । पुच्छः (परुषस्य) कठोरदर्भस्य (वारः) (रथस्य) (बन्धुरम्) अ० ३ । ९ । २ । स्थितिस्थानम् ॥

३—(श्वेत) हसिमृग्रिण्० उ० ३ । ८६ । टु ओश्वि गतिवृद्धयोः—तन् । हे प्रवृद्ध । मनुष्य (पदा) पादेन (अव जहि) विनाशय (पूर्वेण) अग्रभागेन (च) (अपरेण) पश्चाद् भागेन (उदप्लुतम्) जले सृमम् (इव) (दारु) काष्ठम् (अहीनाम्) म० १ । सर्पाणाम् (अरसम्) सारहीनम् (विषम्) गरलम् (वाः) जलम् (उग्रम्) क्रूरम् ॥

भावार्थ—राजा के प्रबन्ध से दुष्ट लोग ऐसे निर्बल हो जावें जैसे उत्तम वैद्य के प्रयत्न से विष निकम्मा हो जाता है, जैसे लकड़ी जल में बहती बहती गलकर सार हीन हो जाती है ॥ ३ ॥

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

अरम्-घुषः । नि-मज्यं । उत्-मज्य । पुनः । अब्रवीत् ॥ उद-प्लुतम्-इव । दारु । अहीनाम् । अरसम् । विषम् । वाः । उग्रम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अरंघुषः) पूरी घोषणा करने वाले [पुरुष] ने (निमज्य) डुबकी लगाकर और (उन्मज्य) उछल कर (पुनः) फिर (अब्रवीत्) कहा । "(उदप्लुतम्) जल में बही हुई (दारु इव) लकड़ी के समान (अहीनाम्) सर्पों का (उग्रम्) क्रूर (वाः) जल [अर्थात्] (विषम्) विष (अरसम्) नीरस [होवे]" ॥ ४ ॥

भावार्थ—विवेकी जन घोषणा देकर विचार पूर्वक शत्रुओं को ऐसा निर्बल करे, जैसे वैद्य द्वारा विष जल में बही लकड़ी के समान निकम्मा हो जाता है ॥ ४ ॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

पैद्वः । हन्ति । कसर्णीलम् । पैद्वः । श्वित्रम् । उत । असितम् ॥ पैद्वः । रथर्व्याः । शिरः । सम् । बिभेद । पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पैद्वः) शीघ्रगामी [पुरुष] (कसर्णीलम्) बुरे मार्ग में छिपे हुये और (पैद्वः) शीघ्रगामी हो (श्वित्रम्) श्वेत (उत) और (असितम्)

४—(अरंघुषः) अलम्+घुषिर् अविशब्दने—क, लस्य रः । पर्याप्त-घोषणाकारी (निमज्य) जले प्रविश्य यथा (उन्मज्य) जलादुद्गत्य यथा (पुनः) (अब्रवीत्) । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

५—(पैद्वः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । पद गतौ-वप्रत्ययः, अस्यैकारः पैद्वः=अश्वः–निघ० १ । १४ । शीघ्रगामी पुरुषः (हन्ति) नाशयति (कसर्णी-

काले [सांप] को (हन्ति) मारता है। (पैद्वः) शीघ्रगामी ने (रथर्व्याः) दौड़ती हुई (पृदाक्वाः) फुंसकारती हुई [सांपिन] का (शिरः) शिर (सम् बिभेद) तोड़ डाला था ॥ ५ ॥

भावार्थ—फुरतीला वीर पुरुष पूर्वज शूरों के समान सांप और सांपिन रूप शत्रुओं और शत्रुसेना का नाश करे ॥ ५ ॥

पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि ।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

पैद्व । प्र । इहि । प्रथमः। अनु । त्वा । वयम् । आ । ईमसि ॥
अहीन् । वि । अस्यतात् । पथः । येन । स्म । वयम् । आ-ईमसि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पैद्व) हे शीघ्रगामी [पुरुष !] (प्रथमः) आगे होकर (प्र इहि) बढ़ा चल, (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (वयम्) हम (आ ईमसि) आते हैं। (अहीन्) महाहिंसक [सांपों] को (पथः) उस मार्ग से (वि अस्यतात्) मार गिरा (येन) जिस से (वयम्) हम (स्म) ही (आ—ईमसि) आते हैं ॥ ६ ॥

लम्) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कं+सरणी+लीङ् श्लेषणे–ड, अकारलोपः। कोः कादेशः। कु कुत्सितायां सरण्यां मार्गे लीनं श्लिष्टम् (पैद्वः) (श्वित्रम्) अ० ३ । २७ । ६ । श्वेतम् (उत) अपिच (असितम्) अ० ३ । २७ । १। कृष्णसर्पम् (रथर्व्याः) रथर्यतिर्गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । कृगृशृदृभ्यो वः। उ० १। १५५ रथर् गतौ—व। जातेरस्त्री०। पा० ४ । १ । ६३ । ङीष्। शीघ्रगामिन्याः सर्पिण्याः (शिरः) (सम्) सम्यक् (बिभेद) चिच्छेद (पृदाकाः) अ० १। २७ । १ । पर्द कुत्सिते शब्दे —काकु, ऊङ्। कुत्सितशब्दकारिण्याः सर्पिण्याः ॥

६—(पैद्व) म० ५। हे शीघ्रगामिन् (प्र इहि) अग्रे गच्छ (प्रथमः) प्रधानः (अनु) अनुसृत्य (त्वा) (वयम्) (आ—ईमसि) ई गतौ—लट्, मसो मसि । ईमः। आगच्छामः (अहीन्) म० १ । महाहिंसकान्। सर्पान् (वि) विशेषेण (अस्यतात्) अस्य । क्षिप (पथः) मार्गात् (येन) यथा (स्म) अवधारणे (वयम् , आ ईमसि) ॥

भावार्थ—अग्रगामी शूर को शत्रुओं के नाश करने में सब लोग सहाय करें ॥ ६ ॥

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

इदम् । पैद्वः । अजायत । इदम् । अस्य । परा-अयनम् ॥
इमानि । अर्वतः । पदा । अहि-घ्न्यः । वाजिनी-वतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (पैद्वः) शीघ्रगामी पुरुष (अजायत) प्रकट हुआ है, (इदम्) यह (अस्य) इसका (परायणम्) पराक्रम का मार्ग है। (अर्वतः) शीघ्र गामी (अहिघ्न्यः) महाहिंसक [सांपों] के मारनेवाले (वाजिनीवतः) अन्न युक्त क्रिया वाले [पुरुष] के (इमानि) यह (पदा) पद-चिह्न हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्वज महात्माओं के चरित्रों पर चलकर मनुष्य आगे बढ़े ७॥

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

सम्-यतम् । न । वि । स्परत् । वि-आत्तम् । न । सम् । यमत् ॥
अस्मिन् । क्षेत्रे । द्वौ । अही इति । स्त्री । च । पुमान् । च ।
तौ । उभौ । अरसा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—वह [सांप] (संयतम्) मुंदे हुये मुख को (न) न (वि स्प-

७—(इदम्) इदानीम् (पैद्वः) म० ५ । शीघ्रगामी (अजायत) प्रादुरभवत् (इदम्) (अस्य) पुरुषस्य (परायणम्) परा पराक्रमयुक्तम् अयनं मार्गः (इमानि) (अर्वतः) अ० ६ । ९२ । २ । ऋ गतौ—वनिप् । शीघ्रगामिनः । विज्ञानिनः (पदा) पदचिह्नानि (अहिघ्न्यः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । अहि+हन हिंसागत्योः—यक् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । षष्ठ्याः सुः । अहिघ्न्यस्य महाहिंसकस्य सर्पस्य नाशकस्य (वाजिनीवतः) अ० ४ । ३८ । ६ । अन्नवतीक्रियायुक्तस्य ॥

८—(संयतम्) संकुचितंमुखम् (न) निषेधे (वि) विवृत्य (स्परत्)

रत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (सम् यमत्) मूंदे । (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) खेत [संसार] में (द्वौ) दो (अही) महाहिंसक [सांप] (स्त्री) स्त्री (च च) और (पुमान्) नर हैं, (तौ) वे (उभौ) दोनों (अरसा) नीरस [हो जावें] ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष ऐसा प्रयत्न करें कि सर्पिणी सर्प समान स्त्री और पुरुष रूप दोनों प्रकार की प्रजायें उपद्रव न मचावें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अ० ६ । ५६ । १ । के उत्तर भाग में आचुका है ॥

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥

अरसासः । इह । अहयः । ये । अन्ति । ये । च । दूरके ॥
घनेन । हन्मि । वृश्चिकम् । अहिम् । दण्डेन । आ-गतम् ॥९॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (अहयः) महाहिंसक [सांप] (अरसासः) नीरस हों, (ये) जो (अन्ति) पास (च) और (ये) जो (दूरके) दूर हैं । (आगतम्) आये हुये (वृश्चिकम्) डंक मारने वाले बिच्छू और (अहिम्) महाहिंसक [सांप] को (घनेन) सोंटे वा मोगरे से और (दण्डेन) दण्डे से (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य सांप रूप दुःखदायियों को यथावत् दण्ड देवें ॥ ९ ॥

रपृ प्रीतिचालनयोः—लेट् । चालयेत् (व्यात्तम्) अ० ६ । ५६ । १ । विवृतं मुखम् (संयमत्) संश्लिष्येत् (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (क्षेत्रे) क्षेत्ररूपे संसारे (द्वौ) (अही) म० १ । महाहिंसकौ सर्पौ (स्त्री) (च) (पुमान्) अ० १ । ८ । १ ॥ नरः (च) (तौ) (उभौ) (अरसा) सारहीनौ ॥

९—(अरसासः) अरसाः । सारहीनाः (इह) अत्र (अहयः) म० १ ॥ महाहिंसकाः । सर्पाः (ये) (अन्ति) पार्श्वे (ये) (च) (दूरके) दूरे (घनेन) काष्ठस्य लोहस्य वा मुद्गरेण (हन्मि) (वृश्चिकम्) वृश्चिकृष्योः किकन् । उ० २ । ४० । ओ व्रश्चू छेदने-किकन् । छेदनशीलम् । कीटभेदम् (अहिम्) (दण्डेन) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ । दमु उपशमे-ड, यद्वा दण्ड दण्डपातने-अच् । दमनसाधनेन लगुडेन (आगतम्) ॥

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥ (१०)
अघ-अश्वस्य । इदम् । भेषजम् । उभयोः । स्वजस्य । च ॥
इन्द्रः । मे । अहिम् । अघ-यन्तम् । अहिम् । पैद्वः । अरन्धयत् ॥ १० ॥ (१०)

भाषार्थ—(उभयोः) दोनों, (अघाश्वस्य) अघाश्व [कष्ट फैलाने वाले सर्प विशेष] का (च) और (स्वज्यस्य) स्वज [लिपट जाने वाले सर्प विशेष] का (इदम्) यह (भेषजम्) औषध है । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले (पैद्वः) शीघ्रगामी [पुरुष] ने (मे) मेरे लिये (अघायन्तम्) बुरा चीतने वाले (अहिम्) महाहिंसक (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) मारा है ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे वैद्यराज बड़े बड़े विषैले सांपों को वश में करता है वैसे ही राजा दुष्टों को वश में करे ॥ १० ॥

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः ।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥
पैद्वस्य । मन्महे । वयम् । स्थिरस्य । स्थिर-धाम्नः ॥
इमे । पश्चा । पृदाकवः । प्र-दीध्यतः । आसते ॥ ११ ॥

१०—(अघाश्वस्य) अघमश्नुते । अघ पापकरणे-अच्+अशू व्याप्तौ-कन् । कष्टप्रस्तारकस्य सर्पविशेषस्य (इदम्) (भेषजम्) औषधम् (उभयोः) (स्वजस्य) ष्वञ्ज आलिङ्गने-क । आलिङ्गनशीलस्य । सर्पविशेषस्य (च) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (मे) मह्यम् (अहिम्) म० १ । महाहिंसकम् (अघायन्तम्) छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । ८ । अघ-क्यच्-शतृ । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । आत्वं सांहितिकम् । अघमिच्छन्तम् (अहिम्) सर्पम् (पैद्वः) म० ५ । शीघ्रगामी (अरन्धयत्) रध हिंसासंराद्ध्योः—णिच्-लङ् । रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते-निरु० १० । ४० । मारितवान् । वशीकृतवान् ॥

भाषार्थ—(स्थिरस्य) स्थिर स्वभाव वाले (स्थिरधाम्नः) स्थिर तेज वाले (पैद्वस्य) शीघ्रगामी [पुरुष] का (वयम्) हम (मन्महे) चिन्तन करते हैं। (इमे) यह (प्रदीध्यतः) क्रीड़ा करते हुये (पृदाकवः) फुंसकारने वाले [सांप] (पश्चा) पीछे (आसते) बैठते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुटिल सांप के समान छिपे उपद्रवियों का खोज लगाते हैं; वे संसार में स्मरणीय होते हैं ॥ ११ ॥

नृष्टासंवो नृष्टविंषा हुता इन्द्रे॑ण वृज्रिणा॑ ।

जुघानेन्द्रो॑ जघ्निमा वृयम् ॥ १२ ॥

नृष्ट-असवः । नृष्ट-विषाः । हुताः । इन्द्रे॑ण । वृज्रिणा॑ ॥

जुघान॑ । इन्द्रः॑ । जुघ्निम । वृयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणा) वज्रधारी (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] करके (हताः) मारे गये [सांप] (नष्टासवः) प्राणों से नष्ट और (नष्टविषाः) विष से नष्ट [होवें] । (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने [सांपों को] (जघान) मारा था, और (वयम्) हम ने (जघ्निम) मारा था ॥ १२ ॥

भावार्थ—दुष्टों के मारने में पूर्वजों के समान सब लोग शूर का साथ देवें ॥ १२ ॥

हुतास्तिर॑श्चिराजयो॒ निपि॑ष्टासः पृदा॑कवः ।

दर्विं॒ करि॑क्रतं श्वि॒त्रं द॒र्भेष्व॑सितं ज॑हि ॥ १३ ॥

११—(पैद्वस्य) म० ५ । शीघ्रगामिनः पुरुषस्य । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । (मन्महे) चिन्तयामः । स्मरामः (वयम्) (स्थिरस्य) दृढस्वभावस्य (स्थिरधाम्नः) दृढतेजस्कस्य (इमे) (पश्चा)तलोपः । पश्चात् (पृदाकवः) कुत्सितशब्दकारकाः । सर्पाः (प्रदीध्यतः) वर्तमाने पृषद्वृहन्० । उ० २ । ८४ । दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—अति । क्रीडन्तः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

१२—(नष्टासवः) विगतप्राणाः (नष्टविषाः) विगतगरलाः (हताः) मारिताः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता पुरुषेण (वज्रिणा) वज्रधारिणा (जघान) नाशितवान् (जघ्निम) नाशितवन्तः (वयम्) ॥

हृताः । तिरश्चि-राजयः । नि-पिष्टासः । पृदाकवः ॥
दर्विम् । करिक्रतम् । श्वित्रम् । दर्भेषु । असितम् । जहि ॥१३॥

भाषार्थ—(तिरश्चिराजयः) तिरछी धारी वाले (पृदाकवः) फुंसकारने वाले [सांप] (हताः) मार डाले गये और (निपिष्टासः) कुचिल डाले गये [हों] । (दर्भेषु) दाभों में (दर्विम्) फन को (करिक्रतम्) बड़ा करने वाले, (श्वित्रम्) श्वेत और (असितम्) काले [सांप] को (जहि) मार डाल ॥१३॥

भावार्थ—मनुष्य महाउपद्रवियों को सांपों के समान मारें ॥ १३ ॥

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

कैरातिका । कुमारिका । सका । खनति । भेषजम् ॥
हिरण्ययीभिः । अभ्रि-भिः । गिरीणाम् । उप । सानुषु ॥१४॥

भाषार्थ—(सका) वह [प्रसिद्ध] (कैरातिका) चिरायता और (कुमारिका) कुवारपाठा, (औषधम्) ओषधि (हिरण्ययीभिः) तजोमयी [चमकीली, उजली] (अभ्रिभिः) खुरपियों से (गिरीणाम्) पहाड़ों की (सा-

१३—(हताः) नाशिताः (तिरश्चिराजयः) अ० ३ । २७ । २ । तिर्यगवस्थितरेखाः (निपिष्टासः) अत्यन्तचूर्णिताः (पृदाकवः)कुत्सितशब्दाः । सर्पाः (दर्विम्) अ० ४ । १४ । ७ । दॄ विदारणे-विन् । सूपचालनपात्रवद् विदारकं फणम् (करिक्रतम्) दाधर्तिदर्धर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । करोतेर्यङ्लुकि शतृ । भृशं कुर्वन्तम् (श्वित्रम्) म० ५ । श्वेतम् (दर्भेषु) काशेषु (असितम्) म० ५ । कृष्णम् (जहि) नाशय ॥

१४—(कैरातिका) किरात-स्वार्थे कन् , अण् टाप् च । भूनिम्बः, ओषधिविशेषः (कुमारिका) कुमारी-स्वार्थे कन्, टाप् च । घृतकुमारिका, ओषधिविशेषः (सका) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० । ५ । ३ । ७१ । सा-अकच् । सा प्रसिद्धा (खनति) कर्मणि कर्तृप्रयोगः । खन्यते (भेषजम्) औषधम् (हिरण्ययीभिः) तेजोमयीभिः । उज्ज्वलाभिः (अभ्रिभिः) सर्वधातुभ्य

नुषु उप) समभूमियों के ऊपर (खनति=खन्यते) खोदी जाती है ॥ १४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग दूर दूर से मंगाकर उपकारी ओषधियों का प्रयोग करते हैं. वैसे ही विद्वान् लोग विद्या प्राप्त करके मूर्खता का नाश करें ॥ १४ ॥

यह (कैरातिका) शब्द कैरात वा किरातक अर्थात् चिरायते के लिये और (कुमारिका) शब्द कुमारी अर्थात् गुआरपाठे [घी गुआर] के लिये आया है ॥

चिरायते के संक्षिप्त नाम और गुण इस प्रकार हैं—भावप्रकाश, हरीतक्यादिवर्ग, श्लोक १४४, १४६ ॥ किराततिक्त; कैरात, कटुतिक्त और किरातक चिरायते के नाम हैं ॥ वह सन्निपातज्वर, श्वास, कफ़, पित्त, रुधिर विकार और दाहनाशक तथा खांसी, सूजन, प्यास, कुष्ठ, ज्वर, व्रण और कृमिरोग नाशक है ॥

गुआरपाठे के संक्षिप्त नाम और गुण–भावप्रकाश, गुडूच्यादिवर्ग, श्लोक २१३, २१४ ॥ कुमारी, गृहकन्या, कन्या, घृतकुमारिका घी कुवार के नाम हैं. घी-कुवार रेचक, शीतल, कड़वी, नेत्रों को हितकारी, रसायनरूप, मधुर, पुष्टिकारक, बलकारक, वीर्यवर्धक और वात, विष नाशक है ॥

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

आ । अयम् । अगन् । युवा । भिषक् । पृश्नि-हा । अपराजितः ॥ सः । वै । स्वजस्य । जम्भनः । उभयोः । वृश्चिकस्य । च ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (युवा) युवा (पृश्निहा) स्पर्श करने वाले [सर्प] का नाश करने वाला, (अपराजितः) न हारा हुआ (भिषक्) वैद्य (आ अगन्) आया है । (सः) वह (वै) निश्चय करके (उभयोः) दोनों (स्वजस्य)

इन् । उ० ४ । ११८ । अभ्र गतौ–इन् तीक्ष्णाग्रैर्लोहदण्डैः (गिरीणाम्) शैलानाम्, (उप) उपरि (सानुषु) समभूमिदेशेषु ॥

१५—(आ अगन्) आगतवान् (अयम्) प्रसिद्धः(भिषक्) चिकित्सकः (पृश्निहा) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । स्पृश स्पर्शे–नि, सलोपः + हन

स्वज [लिपट जाने वाले सर्प विशेष] (च) और (वृश्चिकस्य) डंक मारने वाले बिच्छू का (जम्भनः) नाश करने वाला है ॥ १५ ॥

भावार्थ-बलवान् चतुर वैद्य सब प्रकार के विषैले जीवों का नाश करे १५

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च ।
वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । मित्रः । च । वरुणः ।
च ॥ वातापर्जन्या । उभा ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(मित्रः) सूर्य [के समान] (च च) और (वरुणः) जल [के समान] और (उभा) दोनों (वातापर्जन्या) वायु और मेघ [के समान गुण वाले] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष ने (मे) मेरे लिये (अहिम्) महाहिंसक [सर्प] को (अरन्धयत्) मारा है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परोपकारी विद्वान् वैद्य संसार के उपकार के लिये विषैले जीवों को वश में करे ॥ १६ ॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । पृदाकुम् । च । पृदाक्वम् ॥
स्वजम् । तिरश्चि-राजिम् । कसर्णीलम् । दशोनसिम् ॥१७॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान पुरुष ने (मे) मेरे लिये (पृदाकुम्)

हिंसागत्योः-क्विप् । स्पर्शनशीलानां सर्पाणां नाशकः (अपराजितः) अनभिभूतः (सः) भिषक् (वै) निश्चयेन (स्वजस्य) म० १० । आलिङ्गनशीलस्य सर्पस्य (जम्भनः) नाशकः (वृश्चिकस्य) छेदनशीलस्य कीटस्य (च) ॥

१६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वैद्यः (मे) मह्यम् (अहिम्) म०१ । महाहिंसकं सर्पम् (अरन्धयत्) म० १० । मारितवान् (मित्रः) प्रेरकः सूर्यो यथा (च) (वरुणः) जलवद् गुणकारी (वातापर्जन्या) वायुमेघौ यथा (उभा) द्वौ ॥

१७—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (मे) मह्यम् (अहिम्) महाहिंसकम्

फुंसकारने वाले (अहिम्) सांप (च) और (पृदाकम्) फुंस कारती हुई सांपिन को, (स्वजम्) स्वज [लिपट जाने वाले], (तिरश्चिराजिम्) तिरछी धारा वाले, (कसर्णीलम्) बुरे मार्ग में छिपे हुये और (दशोनसिम्) काटकर हानि पहुंचाने वाले [सांप] को (अरन्धयत्) नाश किया है ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १७ ॥

इन्द्रो॑ जघान प्रथ॒मं ज॑नि॒तार॑महे॒ तव॑ ।

तेषा॑मु तृ॒ह्यमा॑णानां॒ कः स्वि॒त् तेषा॑मस॒द् रसः॑ ॥ १८ ॥

इन्द्रः॑ । ज॒घा॒न॒ । प्र॒थ॒मम् । ज॒नि॒तार॑म् । अ॒हे॒ । तव॑ ॥

तेषा॑म् । ऊं॒ इति॑ । तृ॒ह्यमा॑णानाम् । कः । स्वि॒त् । तेषा॑म् ।

अ॒स॒त् । रसः॑ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अहे) हे महाहिंसक [सांप !] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष ने (तव) तेरे (जनितारम्) जन्म दाता को (प्रथमम्) पहिले (जघान) मारा था। (तेषाम् तेषाम्) उनहीं (तृह्यमाणानाम्) छिदे हुओं का (उ) ही (कः स्वित्) कौनसा (रसः) रस [पराक्रम] (असत्) होवे ॥ १८ ॥

भावार्थ—बलवान् प्रतापी पुरुष हिंसक जीवों के बड़े और छोटों को नाश करे ॥ १८ ॥

सं हि शी॒र्षाण्यग्र॑भं पौञ्जि॒ष्ठ इ॑व॒ कर्व॑रम् ।

(अरन्धयत्) म० १० मारितवान् (पृदाकुम्) कुत्सितशब्दकारिणम् (च) (पृदाकम्) कुत्सितशब्दकरीं सर्पिणीम् (स्वजम्) आलिङ्गनशीलम् (तिरश्चिराजिम्) म० १३ । तिर्यगवस्थितरेखम् (कसर्णीलम्) म० ५ । कुत्सितमार्गे लीनं श्लिष्टम् (दशोनसिम्) दंश दंशने—घञर्थे क। सानसिवर्णसि०। उ० ४। १०७ । ऊन परिहाणे-असि । दशेन दंशनेन ऊनसिर्हानिर्यस्मात् तं सर्पम् ॥

१८—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (जघान) नाशितवान् (प्रथमम्) आदौ (जनितारम्) जनयितारं जनकम् (अहे) हे महाहिंसक (तव) (तेषाम् तेषाम्) तेषामेव (उ) निश्चयेन (तृह्यमाणानाम्) हिंस्यमानानाम् (कः स्वित्) (असत्) भवेत् (रसः) पराक्रमः ॥

सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १८ ॥

सम् । हि । शीर्षाणि । अग्रभम् । पौञ्जिष्ठः-इव । कर्वरम् ॥

सिन्धोः । मध्यम् । परा-इत्य । वि । अनिजम् । अहेः । विषम् १८

भाषार्थ—(हि) क्योंकि [सांपों के] (शीर्षाणि) शिरों को (सम् अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है, (पौञ्जिष्ठः इव) जैसे महा ओजस्वी पुरुष (कर्वरम्) व्याघ्र को [पकड़ लेता है] । (सिन्धोः) नदी के (मध्यम्) मध्य में (परेत्य) दूर जाकर (अहेः) महाहिंसक [सांप] के (विषम्) विषको (वि अनिजम्) मैं ने धो डाला है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जैसे पराक्रमी मनुष्य व्याघ्र आदि को पकड़ लेता है, वैसे ही बलवान् गुणवान् पुरुष उपद्रवियों की दुष्टता को इस प्रकार नष्ट कर दे, जैसे मल आदि को नदी में बहा देते हैं ॥ १८ ॥

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

अहीनाम् । सर्वेषाम् । विषम् । परा । वहन्तु । सिन्धवः ॥

हताः । तिरश्चि-राजयः । नि-पिष्टासः । पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

भाषार्थ—(सिन्धवः) नदियां (सर्वेषाम्) सब (अहीनाम्) महाहिंसक [सांपों] के (विषम्) विष को (परा वहन्तु) दूर बहा ले जावें

१८-(सम्) सम्यक् (हि) यस्मात् कारणात् (शीर्षाणि) मस्तकानि (अग्रभम्) अग्रहम् । अग्रहीषम् (पौञ्जिष्ठः) प्र-ओजिष्ठः प्र-ओजस्वी-इष्ठन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । विनो लुक्, छान्दसं रूपम् । प्रौजिष्ठः । पराक्रमितमः (इव) यथा (कर्वरम्) कॄगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । कॄ क्षेपे हिंसायां च यद्वा कृञ् हिंसायाम्-ष्वरच् । हिंसकम् । व्याघ्रम् । राक्षसम् (सिन्धोः) नद्याः (मध्यम्) (परेत्य) दूरं गत्वा (वि) विविधम् (अनिजम्) णिजिर् शौचपोषणयोः-लुङ् (अहेः) म० १ । सर्पस्य (विषम्) ॥

२०-(अहीनाम्) म० १ । सर्पाणाम् (सर्वेषाम्) (विषम्) (परा) दूरे (वहन्तु) नयन्तु (सिन्धवः) नद्यः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १३ ॥

(तिरश्चिराजयः) तिरछी धारी वाले, (पृदाकवः) फुंसकरने वाले सांप (हताः) मार डाले गये और (निपिष्टासः) कुचिल डाले गये [हों] ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्प समान दुःखदायी दुर्गुणों को ऐसा नष्ट करे जैसे मल आदि को पानी में बहा देते है ॥ २० ॥

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

ओषधीनाम् । अहम् । वृणे । उर्वरीःऽइव । साधुऽया ॥
नयामि । अर्वतीःऽइव । अहे । निःऽऐतु । ते । विषम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों में से (उर्वरीःइव) बड़ों को मिलने योग्य [ओषधियों] को (साधुया) योग्यता से (अहम्) मैं (वृणे) अङ्गीकार करता हूं । और (अर्वतीः इव) बड़ी बुद्धिमती [स्त्रियों] के समान (नयामि) मैं लाता हूं. (अहे) हे महाहिंसक [सांप !] (ते विषम्) तेरा विष (निरैतु) निकल आवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग रोग निवृत्ति के लिये उत्तम ओषधियों का ऐसे आदर से ग्रहण करें, जैसे विद्वान् गुणवती बुद्धिमती स्त्रियों का मान करते हैं २१॥

यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।
कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥

यत् । अग्नौ । सूर्ये । विषम् । पृथिव्याम् । ओषधीषु । यत् ॥

२१—(ओषधीनाम्) (अहम्) (वृणे) अङ्गीकरोमि (उर्वरीः) उरु + ऋ गतिप्रापणयोः—अच्, ङीप् । उरुभिर्महद्भिः प्रापणीया ओषधीः (इव) पादपूरणः (साधुया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याजादेशः । साधुना धर्मेण सह (नयामि) प्रापयामि (अर्वतीः) अ० ६ । ९२ । २ । ऋ गति प्रापणयोः—वनिप् । अर्वणस्त्रसावनञः । पा० ६ । ४ । १२७ । इति तृ, उगित्वाद् ङीप् बुद्धिमतीः स्त्रीः । अर्वतीः प्रशस्तबुद्धिसत्यः कन्याः-दयानन्दभाष्ये, ऋ० १७।१ ३ (इव) यथा (अहे) हे सर्प (निरैतु) बहिरागच्छतु (ते) तव (

कान्दा-विषम् । कनक्कम् । निः-ऐतु । आ । एतु । ते । विषम् २२

भाषार्थ—[हे सर्प !] (यत् विषम्) जो विष (अग्नौ) अग्नि में, (सूर्ये) सूर्य में, (पृथिव्याम्) पृथिवी में, और (यत्) जो (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न आदि पदार्थों] में है। (कान्दाविषम्) मेघ से उत्पन्न [ओषधियों] में व्यापक, (कनक्कम्) गति [उद्योग] नाशक (ते विषम्) तेरा विष (निरैतु) निकल आवे, (आ एतु) [निकल] आवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों में अति वृद्धि वा अति न्यूनता के कारण सर्प के विष के समान रोगकारक क्रिया को त्याग कर विचार पूर्वक समता ग्रहण करके स्वस्थ रहें ॥ २२ ॥

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम २३

ये । अग्नि-जाः । ओषधि-जाः । अहीनाम् । ये । अप्सु-जाः । वि-द्युतः । आ-बभूवुः ॥ येषाम् । जातानि । बहु-धा । महान्ति । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमसा । विधेम ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अहीनाम्) सर्पों में से (ये) जो (अग्निजाः) अग्नि में उत्पन्न, (ओषधिजाः) ओषधियों [अन्न आदि में उत्पन्न, (ये) जो (अप्सुजाः) जल में उत्पन्न होकर (विद्युतः) बिजुलियों [समान] (आबभूवुः) सब ओर हुये हैं। (येषाम्) जिनके (जातानि) समूह (बहुधा) बहुधा [नाना

२२—(कान्दाविषम्) अब्दादयश्च। उ० ४। ९८। कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—दप्रत्ययः। कन्दो मेघः। तस्यापत्यम्। पा० ४। १। ९२। अण्, टाप् कन्दात् मेघात् जातासु ओषधीषु विषं प्रवेशो यस्य तत् (कनक्कम्) कनी दीप्त्यादिषु अच्+क्नथ वधे—ड, स्वार्थे—कन्। गतिनाशकम्। उद्योगवर्जकम्। (ऐतु) आगच्छतु। अन्यत् सुगमं गतं च ॥

२३—(ये) अहयः (अग्निजाः) अग्नौ जाताः (ओषधिजाः) ओषधिषु जाताः (अहीनाम्) सर्पाणां मध्ये (ये) (अप्सुजाः) जलजाताः (विद्युतः) तडितो यथा (आबभूवुः) समन्तात्प्रादुर्बभूवुः (येषाम्) (जातानि) वृन्दानि

प्रकार से] (महान्ति) बड़े बड़े हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सर्पों के [नाश के] लिये (नमसा) वज्र से (विधेम) हम शासन करें ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि आदि पदार्थों में से सर्प रूप हानिकारक अवगुणों का नाश करके स्वास्थ्य बढ़ावें ॥ २३ ॥

तौदी नामासि कुन्या घृताची नाम वा असि ।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥

तौदी । नाम । असि । कुन्या । घृताची । नाम । वै । असि ॥
अधः-पदेन । ते । पदम् । आ । ददे । विष-दूषणम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(तौदी) वृद्धि [बलवृद्धि] वाली (कन्या) कामना योग्य [कन्या अर्थात् गुआरपाठा] (नाम) नाम वाली (असि) तू है, (घृताची) घृत [समान रस] पहुंचाने वाली (नाम) नाम वाली (वै) ही (असि) तू है । (अधस्पदेन) [शत्रु के] नीचे पद के कारण (ते) तेरे (विषदूषणम्) विष खण्डक (पदम्) पद को (आ ददे) मैं ग्रहण करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—गुआरपाठा ओषधि पुष्टिकारक और विषनाशक है, टिप्पणी मन्त्र १४ देखो। मनुष्य गुआर पाठे आदि ओषधियों द्वारा रोगों का नाश करके स्वस्थ रहें ॥ २४ ॥

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत् तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

(बहुधा) नानाप्रकारेण (महान्ति) विशालानि (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) सर्पान् नाशयितुम् (नमसा) वज्रेण (विधेम) विध विधाने=शासने-लिङ् । शासनं कुर्याम ॥

२४—(तौदी) अब्दादयश्च । उ० ४ । ९८ । तु गतिवृद्ध्योः-दप्रत्ययः । तोदो वृद्धिः, अण्, ङीप् । तोदेन बलवृद्ध्या युक्ता (नाम) नाम्ना (असि) (कन्या) अ० १ । १४ । २ । कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यक् । कमनीया । कुमारिका । ओषधिविशेषः (घृताची) घृतं रसमञ्चयति प्रापयति सा (नाम) (वै) एव (अधस्पदेन) शत्रूणां नीचपदेन (ते) तव (पदम्) प्रापणीयं गुणम् (आ ददे) गृह्णामि (विषदूषणम्) विषनाशकम् ॥

अङ्गात्-अङ्गात् । प्र । च्यवय । हृदयम् । परि । वर्जय ॥
अध । विषस्य । यत् । तेजः । अवाचीनम् । तत् । एतु । ते । २५

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (अङ्गादङ्गात्) अङ्ग अङ्ग से [विष को] (प्र च्यवय) सरका दे और (हृदयम्) हृदय को [उस से] (परि वर्जय) त्याग करा दे । (अध) फिर (विषस्य) विष का (यत् तेजः) जो तेज [प्रचण्डता] है, (तत्) वह (ते) तेरे लिये (अवाचीनम्) नीचे (एतु) जावे ॥२५

भावार्थ-मनुष्य सब रोगों को ओषधि द्वारा शान्त करके प्रसन्न रहें ॥२५॥

आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि ।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणयीत् ।
दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ॥ २६ ॥ (१२)

आरे । अभूत् । विषम् । अरौत् । विषे । विषम् । अप्राक् । अपि ॥ अग्निः । विषम् । अहेः । निः । अधात् । सोमः । निः । अनयीत् ॥ दंष्टारम् । अनु । अगात् । विषम् । अहिः । अमृत ॥ २६ ॥ (१२)

भाषार्थ—वह [विष] (आरे) दूर (अभूत्) हुआ है, [क्योंकि] उस [वैद्य] ने (विषम्) विष को (अरौत्) रोक दिया है, और (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपि) भी (अप्राक्) मिला दिया है । (सोमः) ऐश्वर्यवान् (अग्निः) ज्ञानी [पुरुष] ने (अहेः) महाहिंसक [सांप के] (विषम्)

२५—(अङ्गादङ्गात्) (प्र च्यवय) बहिर्गमय (हृदयम्) (परि) सर्वतः (वर्जय) रोधय (अध) अथ (विषस्य) (यत्) (तेजः) तीक्ष्णता (अवाचीनम्) अधोमुखं गतम् (तत्) (एतु) गच्छतु (ते) तुभ्यम् ॥

२६—(आरे) दूरे-निघ० ३ । २६ (अभूत्) (विषम्) (अरौत्) रुधिर् आवरणे-छान्दसो लुङ् । अरुधत् । अरौत्सीत् (विषे) (विषम्) (अप्राक्) पृची सम्पर्के लुङ् । अपर्चीत् (अपि) एव (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (विषम्) (अहेः) सर्पस्य (निरधात्) बहिर्धृतवान् (निर् अनयीत्) णीञ् प्रापणे । कनै-

विष को (निः अधात्) निकाल लिया है और (निः अनयीत्) बाहिर पहुंचा दिया है। (विषम्) विष (दंष्टारम् अनु) काटने वाले के साथ (अगात्) गया है और (अहिः) सांप (अमृत) मर गया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र का मिलान अ० ७। ८८। १। से भी करो। जैसे सद्वैद्य विष ओषधि द्वारा विष रोग को हटाता है, वैसे ही विद्वान् एक इन्द्रिय को वश में करके दूसरे इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ २६ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

—:*:—

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥ मन्त्राः १-५० ॥

विभागः १। मन्त्राः १-२४ ॥ आपो देवताः ॥ १-५, ११, १४ आर्षी पङ्क्तिः; ६ आर्षी जगती; ७-१०, १२, १३ आर्षी बृहती; १५-१८, २१ अतिधृतिः; १९, २० कृतिः; २२, २३ अनुष्टुप्; २४ त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ। जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥१॥

इन्द्रस्य। ओजः। स्थ। इन्द्रस्य। सहः। स्थ। इन्द्रस्य। बलम्। स्थ। इन्द्रस्य। वीर्यम्। स्थ। इन्द्रस्य। नृम्णम्। स्थ ॥ जिष्णवे। योगाय। ब्रह्म-योगैः। वः। युनज्मि ॥१॥

भावार्थ—[हे विद्वानो!] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (सहः) पुरुषार्थ (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (बलम्) बल (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की (वीर्यम्) वीरता

पीत्। प्रापितवान् (दंष्टारम्) दंशकं सर्पम् (अनु) अनुसृत्य (अगात्) आगच्छत् (विषम्) (अहिः) (अमृत) मृङ् प्राणत्यागे-लुङ्। मृतवान् ॥

१—(इन्द्रस्य) आत्मनः (ओजः) पराक्रमः (स्थ) भवथ (सहः) पुरुषार्थः (बलम्) सामर्थ्यम् (वीर्यम्) वीरता (नृम्णम्) अ० ४। २४। ३।

(स्थ) हो। (इन्द्रस्य) आत्मा की (नृम्णम्) शूरता (स्थ) हो। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (ब्रह्मयोगैः) ब्रह्मयोगों [परमात्मा के ध्यानों] से (वः) तुम को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुणों में चित्त लगाते हैं, वे सब प्रकार आत्मोन्नति करके अनेक प्रकार से ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ १ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ २ ॥

० योगाय। क्षत्र-योगैः। वः। ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (क्षत्रयोगैः) राज्य के ध्यानों से (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥

० योगाय। इन्द्र-योगैः। वः। ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (इन्द्रयोगैः) आत्मा के ध्यानों से (वः) तुम को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥३॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥

० योगाय। सोम-योगैः। वः। ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (सोमयोगैः) ऐश्वर्य के ध्यानों से (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ समान है ॥ ४ ॥

शूरत्वम् (जिष्णवे) अ० ३। १६। १। विजयिने (योगाय) संयोगाय। अवसराय (ब्रह्मयोगैः) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ध्यानैः (वः) युष्मान् (युनज्मि) संयोजयामि ॥

२—(क्षत्रयोगैः) राज्यध्यानैः। अन्यत् पूर्ववत्–म० १ ॥

३—(इन्द्रयोगैः) आत्मनो जीवस्य ध्यानैः। अन्यत् पूर्वत्–म० १ ॥

४—(सोमयोगैः) षु ऐश्वर्ये–मन्। ऐश्वर्यचिन्तनैः। अन्यत् पूर्ववत्–म० १॥

इन्द्रस्यौज॒० । जि॒ष्णवे॒ योगा॑याप्सुयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ५ ॥

० योगा॑य । अप्सु-यो॒गैः । वः॒ । यु॒नज्मि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम ......म० १ । (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (अप्सुयोगैः) प्राणों में ध्यान के साथ (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्य॑ १
स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑ । जि॒ष्णवे॒ योगा॑य॒ विश्वा॑नि मा भू॒ता-
न्युप॑ तिष्ठन्तु यु॒क्ता म॑ आप स्थ ॥ ६ ॥

इन्द्र॑स्य । ओजः॑ । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । सहः॑ । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । बल॑म् । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । वी॒र्य॑म् । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । नृ॒म्णम् । स्थ॒ ॥ जि॒ष्णवे॑ । योगा॑य । विश्वा॑नि । मा॒ । भू॒तानि॑ । उप॑ । ति॒ष्ठ॒न्तु॒ । यु॒क्ताः । मे॒ । आप॒: । स्थ॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (सहः) पुरुषार्थ (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (बलम्) बल (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की (वीर्यम्) वीरता(स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की(नृम्णम्)शूरता (स्थ) हो। (जिष्णवे) विजयी(योगाय) संयोग के लिये (विश्वानि) सब (भूतानि) उत्पन्न वस्तुयें (मा) मुझे (उप तिष्ठन्तु) सेवें, (आपः) हे सब विद्याओं में व्यापक विद्वानो ! तुम (मे) मेरे लिये (युक्ताः) योगाभ्यासी [पुरुष] (स्थ) हो ॥ ६ ॥

५—(अप्सुयोगैः) अप्सु प्राणेषु—दयानन्दभाष्ये यजु० ८ । २५ । प्राणेषु ध्यानैः सह । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

६—(विश्वानि) सर्वाणि (मा) माम् (भूतानि) उत्पन्नवस्तूनि (उपतिष्ठन्तु) सेवन्ताम् (युक्ताः) अभ्यस्तयोगाः (मे) मह्यम् (आपः) हे सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । १७ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १॥

भावार्थ—मनुष्य यती विद्वानों के सत्सङ्ग द्वारा संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर कार्य सिद्ध करें ॥ ६ ॥

अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥

अग्नेः । भागः । स्थ ॥ अपाम् । शुक्रम् । आपः । देवीः । वर्चः । अस्मासु । धत्त ॥ प्रजा-पतेः । वः । धाम्ना । अस्मै । लोकाय । सादये ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (अग्नेः) अग्नि का (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् तेजस्वी हो] । (देवीः) हे उत्तम गुण वाली (आपः) विदुषी प्रजाओ ! (अपाम्) विद्वानों के बीच (अस्मासु) हम में (शुक्रम्) वीरता और (वर्चः) तेज (धत्त) धारण करो । (वः) तुमको (प्रजापतेः) प्रजापति [परमेश्वर] के (धाम्ना) धर्म [नियम] से (अस्मै) इस (लोकाय) लोक [के हित] के लिये (सादये) मैं बैठाता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि आदि के समान तेजस्वी आदि गुणवान् होकर ईश्वर नियम पर चल कर संसार का उपकार करें ॥ ७ ॥

इन्द्रस्य भाग स्थ । ०। ० ॥ ८ ॥

इन्द्रस्य । भागः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) सूर्य के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् प्रतापी हो]......म० ७ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ८ ॥

७—(अग्नेः) पावकस्य (भागः) अंशः । तेजः (स्थ) (अपाम्) म० ६ । विदुषां मध्ये (शुक्रम्) वीर्यम् । पराक्रमम् (आपः) हे आप्ताः प्रजाः—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (देवीः) दिव्याः (वर्चः) तेजः (अस्मासु) (धत्त) धरत (प्रजापतेः) प्रजापालकस्य परमेश्वरस्य (वः) युष्मान् (धाम्ना) धर्मणा । नियमेन (अस्मै) पुरोवर्तमानाय (लोकाय) संसारहिताय (सादये) स्थापयामि ॥

८—(इन्द्रस्य) सूर्यस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

सोमस्य भाग स्थं । ० । ० ॥ ९ ॥

सोमस्य । भागः । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (सोमस्य) चन्द्रमा के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् शान्त स्वभाव हो]......म० ७ ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ९ ॥

वरुणस्य भाग स्थं । ० । ० ॥ १० ॥ (१३)

वरुणस्य । भागः । ० ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (वरुणस्य) जल के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् गम्भीर स्वभाव हो] ......म० ७ ॥ १० ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १० ॥

मित्रावरुणयोर्भाग स्थं । ० । ० ॥ ११ ॥

मित्रावरुणयोः । भागः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (मित्रावरुणयोः) प्राण और अपान के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महाबली हो]......म० ७ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ११ ॥

यमस्य भाग स्थं । ० । ० ॥ १२ ॥

यमस्य । भागः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (यमस्य) न्याय के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महान्यायकारी हो]......म० ७ ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १२ ॥

पितृणां भाग स्थं । ० । ० ॥ १३ ॥

९—(सोमस्य) चन्द्रस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

१०—(वरुणस्य) जलस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

११—(मित्रावरुणयोः) प्राणापानयोः । अन्यत् पूर्ववत् म० ७ ॥

१२—(यमस्य) नियमस्य । न्यायस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

पितृणाम् । भागः । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महापालक हो]......म० ७ ॥ १३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥

देवस्य । सवितुः । भागः । स्थ ॥ अपाम् । शुक्रम् । आपः । देवीः । वर्चः । अस्मासु । धत्त ॥ प्रजा-पतेः । वः । धाम्ना । अस्मै । लोकाय । सादये ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) परमेश्वर के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् परमेश्वर में व्याप्त हो] । (देवीः) हे उत्तम गुण वाली (आपः) विदुषी प्रजाओ ! (अपाम्) विद्वानों के बीच (अस्मासु) हम में (शुक्रम्) वीरता और (वर्चः) तेज (धत्त) धारण करो । (वः) तुमको (प्रजापतेः) प्रजापति [परमेश्वर] के (धाम्ना) धर्म [नियम] से (अस्मै) इस (लोकाय) लोक [के हित] के लिये (सादये) मैं बैठाता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १४ ॥

यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः । इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि । तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥

यः । वः । आपः । अपाम् । भागः । अप्-सु । अन्तः । यजुष्यः ।

१३—(पितृणाम्) पालकगुणानाम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० ७ ॥

१४-(देवस्य) प्रकाशमानस्य (सवितुः) परमेश्वरस्य । अन्यत् पूर्ववत्-म०७ ॥

देव-यजनः ॥ इदम् । तम् । अति । सृजामि । तम् । मा । अभि-अवनिक्षि ॥ तेन । तम् । अभि-अतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ तम् । वधेयम् । तम् । स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन । कर्मणा । अनया । मेन्या ॥१५

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (वः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (भागः) अंश (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच (यजुष्यः) पूजा योग्य और (देवयजनः) विद्वानों करके संगति योग्य है । (इदम्) अब (तम्) उस [तुम्हारे पूजनीय अंश] को (अति) आदर पूर्वक (सृजामि) मैं सिद्ध करता हूं, (तम्) उस [अंश] को (मा अभ्यवनिक्षि) मैं न धो डालूं [न नष्ट करूं] । (तेन) उस [पूजनीय अंश] से (तम्) उस [शत्रु] को (अभ्यतिसृजामः) हम हराकर छोड़ते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) कुप्रीति करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) कुप्रीति करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा) इस वेद ज्ञान से, (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनया मेन्या) इस वज्र से (तम्) उस [दुष्ट] को (वधेयम्) मैं मारूं और (तम्) उसको (स्तृषीय) मैं ढक लूं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि दृढ़ता पूर्वक विद्वानों से उत्तम शिक्षा ग्रहण करके और उनके उपकारों पर पानी न फेर कर वेद विद्या द्वारा बाहिरी और भीतरी शत्रुओं का नाश करें ॥ १५ ॥

१५–(यः) (वः) युष्माकम् (आपः) म० ६ । हे विद्वांसः (अपाम्) म० ६ । विदुषाम् (भागः) अंशः (अप्सु) विद्वत्सु (अन्तः) मध्ये (यजुष्यः) यजुष्-यत् । पूजार्हः (देवयजनः) विद्वद्भिः संगन्तव्यः (इदम्) इदानीम् (तम्) भागम् (अति) पूजायाम् (सृजामि) निष्पादयामि (मा अभ्यवनिक्षि) णिजिर् शौचपोषणयोः-लुङ् । मा अभितोऽवशोधयामि । न विनाशयामि (तेन) भागेन (तम्) शत्रुम् (अभ्यतिसृजामः) अभिभूय सर्वतो त्यजामः । वशीकुर्मः (यः) (अस्मान्) (द्वेष्टि) वैरायते (यम्) शत्रुम् (वयम्) धार्मिकाः (द्विष्मः) अप्रीतिं कुर्मः (तम्) (वधेयम्) वध हिंसायाम्-लिङ् । अहं हन्याम् (तम्) (स्तृषीय) स्तृञ् आच्छादने-आ० लिङ् । आच्छादितं क्रियासम् (अनेन) (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अनेन) (कर्मणा) (अनया) (मेन्या) अ० २ । ११ । १ । वज्रेण ॥

यो वं आपोपामूर्मिरप्स्वु ०।०।०।० ॥ १६ ॥

० अपाम् । ऊर्मिः । अप्-सु । ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (ऊर्मिः) वेग (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······मन्त्र १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ-मन्त्र १५ के समान है ॥ १६ ॥

यो वं आपोऽपां वत्सो३ऽप्स्वु ०।०।०।० ॥ १७ ॥

० अपाम् । वत्सः । अप्-सु । ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (वत्सः) निवास (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच···म० १५ ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १७ ॥

यो वं आपोऽपां वृषभो३ऽप्स्वु ०।०।०।० ॥ १८ ॥

० अपाम् । वृषभः । अप्-सु । ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (वृषभः) महापराक्रमी स्वभाव (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······ म० १५ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १८ ॥

यो वं आपोऽपां हिरण्यगर्भो३ऽप्स्वु ०।०।०।० ॥ १९ ॥

० अपाम् । हिरण्य-गर्भः । अप्-सु । ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों

१६-(ऊर्मिः) अर्तेरूच्च । उ० ४ । ४४ । ऋ गतौ-मि, ऊत्वम् । तरङ्गः । प्रकाशः । वेगः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १५ ॥

१७-(वत्सः) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वस निवासे-सप्रत्ययः । निवासः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १५ ॥

१८-(वृषभः) अ० ४ । ५ । १ । वृष प्रजननैश्वर्ययोः-अभच, कित् । महापराक्रमी स्वभावः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १५ ॥

१९-(हिरण्यगर्भः) अ० ४ । २ । ७ । हर्यतेः कन्यन् हिरच् । उ० ४ । ४४ ।

का (हिरण्यगर्भः) कामना योग्य [तेजों] का आधार (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······म० १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १६ ॥

यो वं आपोऽपामश्मा पृश्निर्दि॒व्यो३॒ऽप्सु ०।०।० ।० ॥ २०॥ (१४)

यः । वः । आपः । अपाम् । अश्मा । पृश्निः । दिव्यः । अप्-सु ॥ २० ॥ (१४)

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (दिव्यः) दिव्य (अश्मा) व्यापक गुण (पृश्निः) सूर्य [समान] (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······म० १५ । २० ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ २० ॥

ये व आपोऽपाम॒ग्नयो॒ऽप्स्व१॒न्तर्य॑जु॒ष्या॑ दे॒वयज॑नाः ।
इ॒दं तानति॑ सृजामि॒ तान् माभ्यव॑निक्षि ।
तैस्तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीयानेन॒ ब्रह्म॑णानेन॒ कर्म॑णानया॑ मे॒न्या ॥ २१॥

ये । वः । आपः । अपाम् । अग्नयः । अप्-सु । अन्तः । यजुष्याः । देव-यजनाः ॥ इदम् । तान् । अति । सृजामि । तान् । मा । अभि-अवनिक्षि ॥ तैः । तम् । अभि-अतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ तम् । वधेयम् । तम् ।

हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन्, हिरादेशः । कमनीयानां तेजसामाधारः । अन्यत् पूर्ववत्···म० १५ ॥

२०—(अश्मा) अशू व्याप्तौ अश भोजने वा—मनिन् । व्यापकस्वभावः (पृश्निः) अ० १ । ११ । ४। पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा-निरु० २ । १४ । सूर्यो यथा (दिव्यः) उत्तमः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १५ ॥

स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन । कर्मणा । अनया । मेन्या ॥२१

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (ये) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों के (अग्नयः) ज्ञान प्रकाश (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच (यजुष्यः) पूजा योग्य और (देवयजनाः) विद्वानों करके सङ्गति योग्य हैं । (इदम्) अब (तान्) उन [तुम्हारे ज्ञान प्रकाशों] को (अति) आदर पूर्वक (सृजामि) मैं सिद्ध करता हूं, (तान्) उन [ज्ञान प्रकाशों] को (मा अभ्यवनिक्षि) मैं न धो डालूं [न नष्ट करूं] । (तैः) उन [ज्ञान प्रकाशों] से (तम्) उस [शत्रु] को (अभ्यतिसृजामः) हम हराकर छोड़ते हैं (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) कुप्रीति करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) कुप्रीति करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा) इस वेद ज्ञान से, (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनया मेन्या) इस वज्र से (तम्) उस [दुष्ट] को (वधेयम्) मैं मारूं और (तम्) उसको (स्तृषीय) ढंक लूं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर दृढ़ चित्त रहते और उनके उपकारों पर पानी नहीं फेरते, वे दुष्ट शत्रु को जीतने में समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम । आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

यत् । अर्वाचीनम् । त्रैहायनात् । अनृतम् । किम् । च । ऊदिम ॥ आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुःऽइतात् । पान्तु । अंहसः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(त्रैहायनात्) तीन उद्योगों [परमेश्वर के कर्म, उपासना और ज्ञान] से [अलग होकर] (यत् किम् च) जो कुछ भी (अर्वाचीनम्)

२१—(अग्नयः) ज्ञानप्रकाशाः । अन्यत् पूर्वगतमन्त्रात् १५ यथाविधि संयोजनीयम् ॥

२२-(यत्) (अर्वाचीनम्) अवर + अञ्च गतौ—क्विन् , अर्वादेशः , अर्वाच्-खप्रत्ययः । अर्वाचि अवरे अधमे कर्मणि भवम् (त्रैहायनात्) हश्च व्रीहिका-

नीच कर्म में होने वाले (अनृतम्) झूंठ को (ऊदिम) हम बोले हैं। (आपः) विद्वान् लोग (मा) मुझ को (तस्मात् सर्वस्मात्) उस सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) अपराध से (पान्तु) बचावें ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा परमेश्वर के कर्म, उपासना और ज्ञान की प्राप्ति से मिथ्या कथन आदि दुराचारों को छोड़कर धर्मात्मा होवें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आचुका है—अ० ७ । ६४ । १ ॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

समुद्रम् । वः । प्र । हिणोमि । स्वाम् । योनिम् । अपि । इतन ॥ अरिष्टाः । सर्व-हायसः । मा । च । नः । किम् । चन । आममत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) तुम्हें (समुद्रम्) प्राणियों के यथावत् उदय करने हारे [परमात्मा] की ओर (प्र हिणोमि) मैं आगे बढ़ाता हूं,

---

लयोः । पा० ३ । १ । १८४ । ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च—ल्युट्, बाहुलकात् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । युक् । तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । अण् । त्रयाणां हायनानां गतीनां परमेश्वरस्य कर्मोपासनाज्ञानरूपाणामुद्योगानां समूहस्त्रैहायनं तस्मात् पृथक् भूत्वा (अनृतम्) असत्यम् (किम् च) किंचन (ऊदिम) वयं कथितवन्तः (आपः) म० ६ । विद्वांसः (मा) माम् (तस्मात्) (सर्वस्मात्) (दुरितात) कठिनात् (पान्तु) अंहसः) अपराधात् ॥

२३—(समुद्रम्) अ० १ । १३ । ३ । सम्+उत्+द्रु गतौ–डप्रत्ययः, यद्वा, सम्+मुद हर्षे—रक्, यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने–रक् । समुद्रः कस्मात्समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति, समुनत्तीति वा—निरु० २ । १० । समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । समुद्रः समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्सः–दयानन्दभाष्ये, यजु० ५ । ३३ । सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्ति यत्रेति समुद्रः—महीधरभाष्ये, यजु० ५ । ३३ ।

(अरिष्टाः) बिना हारे हुये (सर्वहायसः) सब ओर गति वाले तुम (स्वाम्) अपने (योनिम्) कारण को (अपि) ही (इतन) प्राप्त हो, (च) और (नः) हमें (किम् चन) कोई भी [दुःख] (मा आममत्) न पीड़ा देवे ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब के आदि कारण जगदीश्वर की यथावत् भक्ति करके सब दुःखों से छूटें ॥ २३ ॥

इस मन्त्र का पिछला पाद आ चुका है–अ० ६ । ५७ । ३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् । प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

अरिप्राः । आपः । अप । रिप्रम् । अस्मत् ॥ प्र । अस्मत् । एनः । दुः-इतम् । सु-प्रतीकाः । प्र । दुः-स्वप्न्यम् । प्र । मलम् । वहन्तु ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अरिप्राः) निर्दोष (आपः) विद्वान् लोग (रिप्रम्) पाप को (अस्मत्) हम से (अप) दूर [पहुंचावें] (सुप्रतीकाः) बड़ी प्रतीति वाले वा सुन्दर रूप वाले लोग (अस्मत्) हम से (दुरितम्) कठिन (एनः) पाप को (प्र) दूर (दुः स्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न को (प्र) दूर और (मलम्) मलिनता को (प्र) दूर (वहन्तु) पहुंचावें ॥ २४ ॥

भूतानां समुदयकारणं परमात्मानम् (वः) युष्मान् (प्र) अग्रे (हिणोमि) हि गतिवृद्ध्योः—अन्तर्गतणिच् । हाययामि । गमयामि (स्वाम्) आत्मीयाम् (योनिम्) कारणम् (अपि) एव (इतन) लोटि तनादेशः । इत । प्राप्नुत (अरिष्टाः) अहिंसिताः (सर्वहायसः) अ० ८ । २ । ७ । सर्व+ओ हाङ् गतौ–असुन्, युक् । सर्वगतयः (च) (नः) अस्मान् (किं चन) किमपि दुःखम् (मा आममत्) अ० ६ । ५७ । ३ । अम पीडने लुङि चङि रूपम् । न पीडयेत् ॥

२४—(अरिप्राः) निर्दोषाः (आपः) म० ६ । विद्वांसः (अप) दूरे (रिप्रम्) अ० ६ । ५१ । २ । पापम् (अस्मत्) (प्र) दूरे (अस्मत्) (एनः) पापम् (दुरितम्) कठिनम (सुप्रतीकाः) अ० ४ । २१ । ६ । सु+प्र+इण् गतौ–ईकन्, तुट् च । शोभनप्रतीतिमन्तः । शोभनरूपाः (प्र) (दुःस्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावम् (प्र) (मलम्) मालिन्यम् (वहन्तु) गमयन्तु ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग घोर पापों से बचकर दूसरों को पापों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥ २४ ॥

विभागः २ । मन्त्राः २५-३६ ॥ विष्णुर्देवता ॥ २५, २७-३५ शक्वरी; २६ अतिशक्वरी, ३६ अष्टिः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः । पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्न-हा । पृथिवी-संशितः । अग्नि-तेजाः ॥ पृथिवीम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । पृथिव्याः । तम् । निः । भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ २५ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (पृथिवीसंशितः) पृथिवी से तीक्ष्ण किया गया, (अग्नितेजाः) अग्नि से तेज पाया हुआ (असि) है । (पृथिवीम् अनु) पृथिवी के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (पृथिव्याः) पृथिवी से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भाग रहित करते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । (सः) वह (मा जीवीत्) न जीता रहे, (तम्) उसको (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ २५ ॥

२५—(विष्णोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (क्रमः) क्रम—अर्श आद्यच् । पराक्रमयुक्तः (असि) (सपत्नहा) शत्रुनाशकः (पृथिवीसंशितः) पृथिवीसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (अग्नितेजाः) अग्नेः प्राप्ततेजाः (पृथिवीम्) (अनु) अनुसृत्य (वि क्रमे) पराक्रमं करोमि (अहम्) (पृथिव्याः) भूमिसकाशात् (तम्) शत्रुम् (निर्भजामः) भागहीनं कुर्मः (मा जीवीत्) लुङि रूपम् । न जीवेत् । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—परमेश्वर की दी हुई अद्भुत शक्तियों से मनुष्य पृथिवी और अग्नि के उपकारों को विचार कर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्दित होवे ॥ २५ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः। अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो ० । ० ॥ २६ ॥

०सपत्न-हा । अन्तरिक्ष-संशितः । वायु-तेजाः ॥ अन्तरिक्षम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । अन्तरिक्षात् । तम् । ० ॥ २६ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों को नाश करने हारा, (अन्तरिक्षसंशितः) अन्तरिक्ष [मध्य लोक] से तीक्ष्ण किया गया, (वायुतेजाः) प्राण आदि वायु से तेज पाया हुआ (असि) है। (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भाग रहित करते हैं……म० २५ ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु के उपकारों को विचारकर संसार में उपकारी बने ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं ० । ० ॥ २७ ॥

० सपत्न-हा । द्यौ-संशितः । सूर्य-तेजाः ॥ दिवम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । दिवः । तम् । ० ॥ २७ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (द्यौसंशितः) आकाश से तीक्ष्ण किया गया, (सूर्यतेजाः) सूर्य से तेज पाया हुआ (असि) है। (दिवम्

२६—(अन्तरिक्षसंशितः) अन्तरिक्षात् तीक्ष्णीकृतः (वायुतेजाः) वायुसकाशात् प्राप्ततेजाः । अन्यत् पूर्ववत् सुगमंच ॥

२७—(द्यौसंशितः) छान्दसी वृद्धिः । द्युसंशितः। आकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सूर्यतेजाः) सूर्यात् प्राप्ततेजाः (दिवम्) आकाशम् (दिवः) आकाशात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अनु) आकाश के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (दिवः) आकाश से (तम्) उस [शत्रु] को''' म० २५ ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के आधार आकाश और वृष्टिआदि के कारण सूर्य के उपकारों को विचार कर संसार में उपकार करें ॥ २७ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं ० । ० ॥ २८ ॥

० सपत्न-हा । दिक्-संशितः । मनः-तेजाः । दिशः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । दिक्-भ्यः । तम् । ० ॥ २८ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से, (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (दिक्संशितः) दिशाओं से तीक्ष्ण किया गया, (मनस्तेजाः) मन से तेज पाया हुआ (असि) है। (दिशः अनु) दिशाओं के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (दिग्भ्यः) दिशाओं से (तम्) उस [शत्रु] को''''' म० २५ ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिशाओं के और मन के ज्ञान से उपकार लेकर उपकारी होवें ॥ २८ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं ० । ० ॥ २९ ॥

० सपत्न-हा । आशा-संशितः । वात-तेजाः ॥ आशाः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । आशाभ्यः । तम् । ० ॥ २९ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रमयुक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (आशासंशितः) मध्य दिशाओं से तीक्ष्ण किया गया, (वाततेजाः) पवन से तेज पाया हुआ (असि)

२८—(दिक्संशितः) दिक्सकाशात् तीक्ष्णीकृतः (मनस्तेजाः) मनसः प्राप्ततेजाः । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

२९—(आशासंशितः) मध्यदिशासकाशात् तीक्ष्णीकृतः (वाततेजाः) पवनात् प्राप्ततेजाः''''' अन्यत् सुगमं गतं च ॥

है। (आशाः अनु) मध्यदिशाओं के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (आशाभ्यः) मध्यदिशाओं से (तम्) उस शत्रु को......म० २५॥ २९॥

भावार्थ—मन्त्र २८ के समान है॥ २९॥

विष्णोः क्रमो॑ऽसि सपत्न॒हा ऋक्सं॑शित॒ः साम॑तेजाः।
ऋचोऽनु॒ वि क्र॑मे॒ऽहमृ॒ग्भ्यस्तं० । ०॥ ३०॥ (१५)

० स॒प॒त्न॒-हा। ऋक्-सं॑शितः। साम॑-तेजाः॥ ऋचः॑। अनु॑। वि। क्र॒मे॒। अ॒हम्। ऋ॒क्-भ्यः। तम्। ०॥ ३०॥ (१५)

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (ऋक्संशितः) वेद वाणियों से तीक्ष्ण किया गया, (सामतेजाः) दुःखनाशक मोक्ष ज्ञान से तेज पाया हुआ (असि) है। (ऋचः अनु) वेद वाणियों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (ऋग्भ्यः) वेद वाणियों से (तम्) उसशत्रु को...म० २५॥३०॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्याओं और मोक्षविद्याओं द्वारा दुःख से छूट कर सुख प्राप्त करे॥ ३०॥

विष्णोः क्रमो॑ऽसि सपत्न॒हा य॒ज्ञसं॑शितो॒ ब्रह्म॑तेजाः।
य॒ज्ञमनु॒ वि क्र॑मे॒ऽहं य॒ज्ञात् तं० । ०॥ ३१॥

० स॒प॒त्न॒-हा। य॒ज्ञ-सं॑शितः। ब्रह्म॑-तेजाः॥ य॒ज्ञम्। अनु॑। वि। क्र॒मे॒। अ॒हम्। य॒ज्ञात्। तम्। ०॥ ३१॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रमयुक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (यज्ञसंशितः) शुभ कर्म

३०—(ऋक्संशितः) ऋग् वाङ्नाम—निघ० १। ११। वेदवाणीसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सामतेजाः) साम व्याख्यातम्—अ० ७। ५४। १। षो अन्तकर्मणि—। दुःखनाशकमोक्षज्ञानात् प्राप्ततेजाः (ऋचः) वेदवाणीः। अन्यत् सुगमं च॥

३१—(यज्ञसंशितः) शुभकर्मसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (ब्रह्मतेजाः) परप्राप्ततेजाः। अन्यत सुगमं गतं च॥

से तीक्ष्ण किया गया और (ब्रह्मतेजाः) ब्रह्म [परमेश्वर] से तेज पाया हुआ (असि) है। (यज्ञम् अनु) शुभ कर्म के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (यज्ञात्) शुभकर्म से (तम्) उस [शत्रु] को......म० २५ ॥ ३१ ॥

भावार्थ-मनुष्य शुभ कर्म द्वारा ईश्वर से तेज प्राप्त करके सुखी होवे ३१

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ० । ० ॥ ३२ ॥

० सपत्न-हा । ओषधी-संशितः सोम-तेजाः ॥ ओषधीः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । ओषधीभ्यः । तम् । ० ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (ओषधीसंशितः) ओषधियों से तीक्ष्ण किया गया, (सोमतेजाः) सोम [अमृतरस] से तेज पाया हुआ (असि) है। (ओषधीः अनु) ओषधियों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (तम्) उस [शत्रु] को...... म० २५ ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों और सोम आदि के रस के प्रयोग से बलवान् होकर प्रसन्न रहें ॥ ३२ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३३ ॥

० सपत्न-हा । अप्सु-संशितः । वरुण-तेजाः ॥ अपः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । अत्-भ्यः । तम् । ० ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (अप्सुसंशित,) जलों

३२—(ओषधीसंशितः) ओषधिसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सोमतेजाः) सोमरसात्प्राप्ततेजाः । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

३३—(अप्सुसंशितः) जलसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (वरुणतेजाः) मेघात् प्राप्ततेजाः (अपः) जलानि । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

से तीक्ष्ण किया गया, (वरुणतेजाः) मेघ से तेज पाया हुआ (असि) है। (अपः अनु) जलों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (अद्भ्यः) जलों से (तम्) उस (शत्रु) को......म० २५ ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जल विद्याओं में निपुण होकर मेघ समान उपकारी होवे ॥ ३३ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ० । ० ॥ ३४ ॥

० सपत्न-हा । कृषि-संशितः । अन्न-तेजाः ॥ कृषिम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । कृष्याः । तम् । ० ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (कृषिसंशितः) खेती से तीक्ष्ण किया गया और (अन्नतेजाः) अन्न से तेज पाया हुआ (असि) है। (कृषिम् अनु) खेती के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (कृष्याः) खेती से (तम्) उस [शत्रु] को......म० २५ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती और अन्नके प्रयोग से ऐश्वर्यवान् होवे ॥ ३४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितःपुरुषतेजाः । प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्न-हा । प्राण-संशितः । पुरुष-तेजाः ॥ प्राणम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । प्राणात् । तम् । निः । भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ ३५ ॥

३४—(कृषिसंशितः) भूमिकर्षणात् तीक्ष्णीकृतः (अन्नतेजाः) अदनीयपदार्थान् प्राप्ततेजाः । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

भावार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) शत्रुओं का नाश करने हारा, (प्राणसंशितः) प्राण से तीक्ष्ण किया गया और (पुरुषतेजाः) पुरुष [आत्मा] से तेज पाया हुआ (असि) है। (प्राणम् अनु) प्राण के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (प्राणात्) प्राण से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भागरहित करते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा-जीवीत्) न जीता रहे, (तम्) उसको (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ देवे॥३५॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण [जीवन साधन वायु] और आत्मा [परमात्मा और जीवात्मा] के बोध से संसार में उन्नति करे ॥ ३५ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि
वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३६ ॥

जितम् । अस्माकम् । उत्-भिन्नम् । अस्माकम् । अभि । अस्थाम् ।
विश्वाः । पृतनाः । अरातीः ॥ इदम् । अहम् । आमुष्यायणस्य ।
अमुष्याः । पुत्रस्य । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि ।
वेष्टयामि । इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ३६ ॥

भावार्थ—(जितम्) जय किया गया (अस्माकम्) हमारा [हो], (उद्भिन्नम्) निकासी किया हुआ (अस्माकम्) हमारा [हो], (विश्वाः) सब (पृतनाः) [शत्रुओं की] सेनाओं और (अरातीः) कञ्जूसियों को

३५—(प्राणसंशितः) प्राणात् तीक्ष्णीकृतः (पुरुषतेजाः) पुरुषात् परमात्मनो जीवात्मनश्च प्राप्ततेजाः (प्राणम्) प्राणसाधनं वायुम् (अनु) अनुसृत्य- (प्राणात्) जीवनसाधनाद् वायुविशेषात्। अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

३६—(जितम्) जयेन प्राप्तम् (अस्माकम्) धर्मात्मनाम् (उद्भिन्नम्) उद्भेदनं स्फुरणम्। आयधनम् (अस्माकम्) (अभि अस्थाम्) अभिभूतवानस्मि (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः)अ० ३। २१। ३। शत्रुसेनाः (अरातीः) अदानशक्तीः। अनुदारताः (इदम्) इदानीम् (अहम्) शूरः (आमुष्यायणस्य)

(अभि अस्थाम्) मैं ने रोक दिया है । (इदम्) अब (अहम्) मैं (आमुष्यायणस्य) अमुक पुरुष के और (अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्रस्य) पुत्र का (वर्चः) प्रताप, (तेजः) तेज (प्राणम्) प्राण और (आयुः) जीवन को (नि वेष्टयामि) लपेटे लेता हूं, (इदम्) अब (एनम्) इसको (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) गिराता हूं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—प्रजापालक शूर वीर पुरुष एक शत्रु को जीतकर उसकी आय से सुप्रबन्ध करे और दूसरे प्रसिद्ध प्रसिद्ध वैरियों को इसी प्रकार अधीन करे ॥३६

विभागः ३। मन्त्राः ३७—४१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ ३७ अनुष्टुप् ; ३८ पुर-उष्णिक् ; ३९ , ४१ गायत्री; ४० विराड् गायत्री छन्दः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः-विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वा॒वर्ते॒ दक्षि॑णा॒मन्वा॒वृत॑म् ।
सा मे॒ द्रवि॑णं यच्छतु॒ सा मे॑ ब्राह्मणवर्च॒सम् ॥ ३७ ॥

सूर्य॑स्य । आ॒ऽवृत॑म् । अनु॒ऽआ॒वर्ते॑ । दक्षि॑णाम् । अनु॑ । आ॒ऽवृत॑म् ॥ सा । मे॒ । द्रवि॑णम् । य॒च्छ॒तु॒ । सा । मे॒ । ब्रा॒ह्म॒ण॒ऽव॒र्च॒सम् ३७

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम्) परिपाटी [रीति पर] (अन्वावर्ते) मैं चला चलता हूं. [उसकी] (दक्षिणाम्) वृद्धियुक्त (आवृतम् अनु) परिपाटी पर । (सा) वह [परिपाटी] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और

अ० ४ । १६ । ८ । नडादिभ्यः फक् । पा० ४ । १ । ९९ । अमुष्य—फक् । आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च । वा० पा० ६ । ३ । २१ । षष्ठ्या अलुक् । अमुष्य पुरुषस्य पुत्रस्य (अमुष्याः) अमुकजनन्याः (पुत्रस्य) सुतस्य (वर्चः) प्रतापम् (तेजः) प्रकाशम् (प्राणम्) (आयुः) जीवनम् (नि) नितराम् (वेष्टयामि) आच्छादयामि (इदम्) (एनम्) शत्रुम् (अधराञ्चम्) अधोगतम् (पादयामि) पातयामि ॥

३७—(सूर्यस्य) (आवृतम्) वृञ् वरणे-क्विप्, तुक् । परिपाटीम् । रीतिम् (अन्वावर्ते) निरन्तरं गच्छामि (दक्षिणाम्) दक्ष वृद्धौ शैघ्र्ये च-इनन्, टाप् । प्रवृद्धाम् (अनु) क्रियायोगे । अन्वावर्ते (आवृतम्) (सा) आवृत् (मे) मह्यम् (द्रविणम्) बलम्-निघ० २ । ९ (यच्छतु) दाण् दाने । ददातु (सा)

(सा) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छतु) देवे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान ईश्वरकृत नियम पर चलकर बल और ब्रह्मविद्या प्राप्त करे ॥ ३७ ॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

दिशः । ज्योतिष्मतीः । अभि-आवर्ते ॥ ताः । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ताः । मे । ०॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(ज्योतिष्मतीः) प्रकाशमयी (दिशः) दिशाओं की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं । (ताः) वे [दिशायें] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ताः) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब दिशाओं से विज्ञान द्वारा बल प्राप्त करके ईश्वर आज्ञा का पालन करें ॥ ३८ ॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

सप्त-ऋषीन् । अभि-आवर्ते ॥ ते । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ते । मे । ० ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(सप्तऋषीन्) सात व्यापन शीलों वा दर्शन शीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख और मुख इन सात छिद्रों] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं । (ते)

(मे) (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ । अच् बाहुलकात् । ब्राह्मणस्य ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषस्य प्रतापम् ॥

३८—(दिशः) प्राच्यादीः (ज्योतिष्मतीः) प्रकाशवतीः (अभ्यावर्ते) अभीत्य वर्तनं करोमि (ताः) दिशः (यच्छन्तु) ददतु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३९—(सप्तऋषीन्) अ० ४ । ११ । ९ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणम-

वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों से यथावत् उपकार लेकर बली और ब्रह्मवर्चसी होवें ॥ ३९ ॥

ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ।४०।(१६)

ब्रह्म । अभि-आवर्ते ॥ तत् । मे । द्रविणम् । यच्छतु । तत् । मे ।० ॥ ४० ॥ (१६)

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं। (तत्) वह [ब्रह्म] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (तत्) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छतु) देवे ॥ ४० ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण समान बलवान् और प्रतापी होवें ॥ ४० ॥

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणान् । अभि-आवर्ते ॥ ते । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ते । मे । ब्राह्मण-वर्चसम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मज्ञानियों के सत्संग से ऐश्वर्य और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

विभागः ४ । मन्त्राः ४२-५० ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ ४२, ४३, ४६, ४७, अनुष्टुप्; ४४ आर्चीपङ्क्तिः; ४५ भुरिगनुष्टुप् ४८, ४९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

नोदुद्धीः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४०—(ब्रह्म) प्रवृद्धं परमेश्वरम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४१—(ब्राह्मणान्) ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यं वयं मृगयामहे तं वधैं स्तृणवामहै ।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥

यम् । वयम् । मृगयामहे । तम् । वधैः । स्तृणवामहै । वि-आत्ते । परमे-स्थिनः । ब्रह्मणा । आ । अपीपदाम । तम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [शत्रु] को (वयम्) हम (मृगयामहे) ढूंढ़ते हैं, (तम्) उसको (वधैः) वज्रों से (स्तृणवामहै) हम विनाशें । (परमेष्ठिनः) सब से ऊंचे पद वाले [राजा] के (व्यात्ते) खुले मुख [वश] में (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (तम्) उसको (आ=आनीय) लाकर (अपीपदाम) हमने गिरा दिया है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—सब शूरवीर शुभचिन्तक मनुष्य दुष्टों को पकड़ कर राजा के वशीभूत करें ॥ ४२ ॥

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि ।
इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्य । दंष्ट्राभ्याम् । हेतिः । तम् । सम् । अधात् । अभि ॥ इयम् । तम् । प्सातु । आ-हुतिः । सम्-इत् । देवी । सहीयसी ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरस्य) सब नरों का हित करने हारे [राजा] के (दंष्ट्राभ्याम्) [प्रजा रक्षण और शत्रुनाशन रूप] दोनों डाढ़ों से (हेतिः) वज्र ने

४२—(यम्) शत्रुम् (वयम्) राजप्रजागणाः (मृगयामहे) अन्विच्छामः (तम्) (वधैः) वज्रैः (स्तृणवामहै) स्तृणातिर्वधकर्मा-निघ० २ । १९। विनाशयाम । (व्यात्ते) प्रसारिते मुखे । वशे (परमेष्ठिनः) अत्युच्चपदस्थितस्य राज्ञः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (आ) आनीय (अपीपदाम) पातयतेर्लुङ्, तस्य दः । वयं पातितवन्तः (तम्) शत्रुम् ॥

४३-(वैश्वानरस्य) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितस्य राज्ञः (दंष्ट्राभ्याम्) प्रजारक्षणशत्रुनाशनरूपाभ्यां दन्तविशेषाभ्याम् (हेतिः) वज्रः (तम्) शत्रुम्

(तम्) उस [शत्रु] को (सम् अभि अधात्) दबोच लिया है। (इयम्) यह (आहुतिः) आहुति [होम का चढ़ावा], (देवी) उत्तम गुण वाली (सहीयसी) अधिक बल वाली (समित्) समिधा [काष्ठ घृत आदि] (तम्) उसको (प्सातु) खा जावे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—प्रजापालक राजा उपद्रवियों को सदा वश में रक्खे और उन को ऐसा नष्ट कर देवे जैसे हवन में उत्तम सामग्री और काष्ठ आदि से रोग-कारक दुर्गन्ध आदि नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

राज्ञो वरु॑णस्य ब॒न्धो॑ऽसि । सो॒३॑ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्र-मन्ने॑ प्रा॒णे ब॑धान ॥ ४४ ॥

राज्ञः॑ । वरु॑णस्य । ब॒न्धः । अ॒सि॒ ॥ सः । अ॒मुम् । आ॒मु॒ष्या॒य॒-णम् । अ॒मुष्याः॑ । पु॒त्रम् । अन्ने॑ । प्रा॒णे । ब॒धा॒न॒ ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] तू (वरुणस्य) श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा का [शत्रुओं के लिये] (बन्धः) बन्धन (असि) है। (सः) सो तू (अमुम्) अमुक पुरुष, (आमुष्यायणम्) अमुक पिता के पुत्र और (अमुष्याः) अमुक माता के (पुत्रम्) पुत्र को (अन्ने) अन्न में और (प्राणे) श्वास में (बधान) बांध ले ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्री, सेनापति आदि राजपुरुषों को योग्य है कि माता पिता आदि के नाम से पता लगाकर दुराचारी को अन्न और वायु की रोक के साथ कारागार में बन्ध कर दें ॥ ४४ ॥

यत् ते॒ अन्नं॑ भुवस्पत आ॒क्षि॒यति॑ पृथि॒वीमनु॑ ।

(सम् अधात्) निगृहीतवती (अभि) अभितः (इयम्) (तम्) (प्सातु) भक्षयतु (आहुतिः) मन्त्रेणाग्नौ हविःक्षेपः (समित्) समिधा (देवी) उत्तमगुणा (सहीयसी) बलवत्तरा ॥

४४—(राज्ञः) प्रजाशासकस्य (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (बन्धः) पाशरूपः (असि) (सः) स त्वम् (अमुम्) अमुकनामानम् (आमुष्यायणम्) म० ३६। अमुष्य पुरुषस्य पुत्रम् (अमुष्याः) अमुकजनन्याः (पुत्रम्) (अन्ने) अन्न-संयमने (प्राणे) वायुसंयमने (बधान) निगृहाण ॥

तस्य नुस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

यत् । ते । अन्नम् । भुवः । पते । आ-क्षियति । पृथिवीम् । अनु ॥ तस्य । नः । त्वम् । भुवः । पते । सम्-प्रयच्छ । प्रजा-पते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(भुवः पते) हे भूपति [राजन् !] (यत्) जो (ते) तेरा (अन्नम्) अन्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (आक्षियति) रहा करता है। (भुवः पते) हे भूपति! (प्रजापते) हे प्रजापति [राजन्!] (त्वम्) तू (नः) हमें (तस्य) उस [अन्न] का (संप्रयच्छ) दान करता रहे ॥ ४५ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुप्रबन्ध से अन्न आदि पदार्थों को खेत और भाण्डागार में सुरक्षित रखकर प्रजा पालन करे ॥ ४५ ॥

अपो दिव्या अचायिषुं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ॥ पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्ष्महि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान्! (पयस्वान्) गतिवाला मैं (आ अगमम्) आया हूं (तम्) उस (मा) मुझ को (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ ४६ ॥

४५—(यत्) (ते) तव (अन्नम्) भोज्यं वस्तु (भुवः) भूमेः (पते) स्वामिन् (आ क्षियति) समन्तात् निवसति। वर्तते (पृथिवीम्) (अनु) प्रति (तस्य) अन्नस्य (नः) अस्मभ्यम् (भुवः पते) (संप्रयच्छ) सम्यग् दानं कुरु (प्रजापते) हे प्रजापालक ॥

४६—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८६ । १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ७ । ८९ । १ ॥

सं माग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ ४७ ॥

सम् । मा॒ । अ॒ग्ने॒ । वर्च॑सा । सृ॒ज॒ । सम् । प्र॒-जया॑ । सम् । आयु॑षा ॥ वि॒द्युः । मे॒ । अ॒स्य । दे॒वाः । इन्द्रः॑ । वि॒द्यात् । स॒ह । ऋषि॑-भिः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझ को (वर्चसा) [ब्रह्म विद्या के] तेजसे (सम्) अच्छे प्रकार, (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार, और (आयुषा) जीवन से (सम् सृज) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस (मे) मुझ को (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों के साथ [मुझे] (विद्यात्) जाने ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरुजनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ४७ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७ । ८९ । २ ॥

यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः ।
म॒न्योर्मन॑सः श॒र॒व्या॒३॒ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ ४८ ॥

यत् । अ॒ग्ने॒ । अ॒द्य । मि॒थु॒ना । शपा॑तः । यत् । वा॒चः । तृ॒ष्टम् । ज॒नय॑न्त । रे॒भाः ॥ म॒न्योः । मन॑सः । श॒र॒व्या॑ । जाय॑ते । या । तया॑ । वि॒ध्य॒ । हृद॑ये । या॒तु॒-धाना॑न् ॥ ४८ ॥

४७—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८९ । २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यत्) जो (अद्य) आज (मिथुना) दो हिंसक मनुष्य [सत्पुरुषों से] (शपातः) कुवचन बोलते हैं, और (यत्) जो (रेभाः) शब्द करने वाले [शत्रु लोग] (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कठोरता (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं, (मन्योः) क्रोध से (मनसः) मन को (या) जो (शरव्याः) बाणों की झड़ी (जायते) उत्पन्न होती है, (तया) उस से (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (हृदये) हृदय में (विध्य) तू वेध ले ॥ ४८ ॥

भावार्थ—राजा दुर्वचनभाषियों को विचार पूर्वक दण्ड देता रहे ॥४८॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ८ । ३ । १२ ॥

परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि ।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवां छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ४९ ॥

परा॑ । शृ॒णी॒हि॒ । तप॑सा । या॒तु॒-धाना॑न् । परा॑ । अ॒ग्ने॒ । रक्षः॑ । हर॑सा । शृ॒णी॒हि॒ ॥ परा॑ । अ॒र्चिषा॑ । मूर॑-देवान् । शृ॒णी॒हि॒ । परा॑ । अ॒सु॒-तृपः॑ । शोशु॑चतः । शृ॒णी॒हि॒ ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तपसा) अपने तप [ऐश्वर्य वा प्रताप] से (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (परा शृणीहि) कुचल डाल, (रक्षः) राक्षसों [दुराचारियों वा रोगों] को (हरसा) अपने बल से (परा शृणीहि) मिटा दे । (अर्चिषा) अपने तेज से (मूरदेवान्) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वालों को (परा शृणीहि) नाश कर दे, (शोशुचतः) अत्यन्त दमकते हुये, (असुतृपः) [दूसरों के] प्राणों से तृप्त होने वालों को (परा शृणीहि) चूर चूर कर दे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—राजा अत्यन्त क्लेशदायक प्राणियों के नाश करने में सदा उद्यत रहे ॥ ४९ ॥

यह मन्त्र आ चुका है-अ० ८ । ३ । १३ ॥

४८—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ८ । ३ । १२ ॥

४९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० ८ । ३ । १३ ॥

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ ५० ॥ (१७)

अपाम् । अस्मै । वज्रम् । प्र । हरामि । चतुःभृष्टिम् । शीर्ष-भिद्याय । विद्वान् ॥ सः । अस्य । अङ्गानि । प्र । शृणातु । सर्वा । तत् । मे । देवाः । अनु । जानन्तु । विश्वे ॥५०॥ (१७)

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् मैं (अस्मै) इस [शत्रु पर] (शीर्षभिद्याय) शिर तोड़ने के लिये (अपाम्) जलों का (चतुर्भृष्टिम्) चौफाले (वज्रम्) वज्र [अस्त्र] को (प्र हरामि) चलाता हूं । (सः) वह [वज्र] (अस्य) उस के (सर्वा) सब (अङ्गानि) अङ्गों को (प्र शृणातु) चूर चूर कर डाले, (मे) मेरे (तत्) उस [कर्म] को (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अनु जानन्तु) मान लेवें ॥ ५० ॥

भावार्थ—राजा चारो ओर चोट करने वाले वारुणेय [जल में छुटने वाले] अस्त्र [इसी प्रकार आग्नेय, वायव्य अस्त्र] से शत्रु का नाश करके विद्वानों में कीर्ति पावे ॥ ५० ॥

सूक्तम् ६ ॥

१–३५ ॥ बृहस्पतिः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, २१ गायत्री; २, ३, १८, १९, २२, २८, २९, ३०, ३३, ३४ अनुष्टुप्; ५, ३५ आर्षी जगती; ६,१२–१७ शक्वरी; ७, ८, ९ अष्टिः; १० धृति; ११, २०, २३–२७ पथ्या पङ्क्तिः; ३१ भुरिग्जगती; ३२ भुरिगनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वकामसिद्ध्युपदेशः—सब कामनाओं की सिद्धि का उपदेश ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः । अपि वृश्चा-

५०—(अपाम्) जलानाम् (अस्मै) शत्रवे (वज्रम्) आयुधम् (प्र हरामि) प्रक्षिपामि (चतुर्भृष्टिम्) भृशु अधःपतने भ्रस्ज पाके वा–क्तिन् । चतस्रो भृष्टयोऽधःपातनानि यस्मिन् तं वज्रम् (शीर्षभिद्याय) भिदिर् विदारणे–क्यप् । शिरोभेदनाय (सः) वज्रः (अस्य) शत्रोः (अङ्गानि) (प्र शृणातु) चूर्णीकरोतु (तत्) कर्म (मे) मम (देवाः) विद्वांसः (अनु जानन्तु) स्वीकुर्वन्तु (विश्वे) सर्वे ॥

स्योजसा ॥ १ ॥

अरातिऽयोः । भ्रातृव्यस्य । दुःऽहार्दः । द्विषतः । शिरः ॥ अपि । वृश्चामि । ओजसा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अरातीयोः) कंजूसी करने वाले, (भ्रातृव्यस्य) भ्रातृभाव से रहित, (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (द्विषतः) द्वेषी के (शिरः) शिर को (ओजसा) बल के साथ (अपि वृश्चामि) मैं काटे देता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी मनुष्य शत्रुओं के मारने में सदा समर्थ होवे ॥ १ ॥

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

वर्म । मह्यम् । अयम् । मणिः । फालात् । जातः । करिष्यति ॥ पूर्णः । मन्थेन । मा । आ । अगमत् । रसेन । सह । वर्चसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(फालात्) फल के [देने में] ईश्वर [परमात्मा] से (जातः) उत्पन्न हुआ (अयम्) यह (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मह्यम्) मेरे लिये (वर्म) कवच (करिष्यति) बनावेगा । (मन्थेन) मथन [सूक्ष्म विचार] से (पूर्णः) पूर्ण [वह वैदिक नियम] (मा) मुझ को (रसेन) बल और (वर्चसा सह) प्रताप के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर प्रणीत वेद के सूक्ष्म विचार से बली और प्रतापी होवे ॥ २ ॥

१—(अरातीयोः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अराति + या गतिप्रापणयोः–कु । अदानशीलस्य । अनुदारस्य (भ्रातृव्यस्य) अ० २ । १८ । १ । भ्रातृभावरहितस्य (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । दुष्टहृदयस्य (द्विषतः) शत्रोः (शिरः) (अपि वृश्चामि) अवच्छिनद्मि (ओजसा) बलेन ॥

२—(वर्म) कवचम् (मह्यम्) (अयम्) (मणिः) अ० ८ । ५ । १ । स्तुत्यो वैदिकनियमः (फालात्) तस्येश्वरः । पा० ५ । १ । ४२ । फल–अण् । फलस्येश्वरात् । परमेश्वरात् (जातः) प्रादुर्भूतः (करिष्यति) (पूर्णः) पूरितः (मन्थेन) मथनेन । सूक्ष्मविचारेण (मा) माम् (आ अगमत्) प्राप्तवान् (रसेन) बलेन (सह) (वर्चसा) प्रतापेन ॥

यत् त्वा शिक्वः पुरावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥

यत् । त्वा । शिक्वः । पुरा-अवधीत् । तक्षा । हस्तेन । वास्या ॥
आपः । त्वा । तस्मात् । जीवलाः । पुनन्तु । शुचयः । शुचिम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (शिक्वः) छीलने वाले, (तक्षा) दुर्बल करने वाले [शत्रु] ने (हस्तेन) अपने हाथ से (वास्या) कुल्हाड़ी द्वारा (त्वा) तुझ को (परा-अवधीत्) मार गिराया है। (जीवलाः) जीवन दाता, (शुचयः) शुद्ध स्वभाव वाले (आपः) विद्वान् लोग (शुचिम् त्वा) तुझ पवित्र को (तस्मात्) उस [कष्ट] से (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परोपकारी धर्मात्मा विद्वान् लोग उत्पातियों से निर्बलों की रक्षा करें ॥ ३ ॥

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

हिरण्य-स्रक् । अयम् । मणिः । श्रद्धाम् । यज्ञम् । महः । दधत् ॥
गृहे । वसतु । नः । अतिथिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यस्रक्) कामना योग्य [तेजों] का उत्पन्न करने वाला (अतिथिः) सदा मिलने योग्य (अयम्) यह (मणिः) मणि: [प्रशंसनीय

३—(यत्) यदि (त्वा) (शिक्वः) अशूप्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । शिज् निशाने—किन् कुगागमश्च । छेत्ता (परा) दूरे (अवधीत्) अहिंसीत् (तक्षा) तनूकर्ता (हस्तेन) (वास्या) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । वस स्नेहच्छेदापहरणेषु—इञ् । कुठारेण (आपः) अ० १० । ५ । ६ । विद्वांसः (त्वा) (तस्मात्) कष्टात् (जीवलाः) ला आदाने-क । जीवनदातारः (पुनन्तु) शोधयन्तु (शुचयः) पवित्रस्वभावाः (शुचिम्) पवित्रम् ॥

४—(हिरण्यस्रक्) अ० १० । ६ । २ । हर्य गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशः। ऋत्विग्दधृक्स्रग्० । पा० ३ । २ । ५६ । सृज उत्पादने-किन्, अमागमः । कमनीयानां तेजसां स्रष्टा (अयम्) प्रसिद्धः (मणिः) म० २ । प्रशंसनीयो वेदबोधः

वैदिक नियम] (श्रद्धाम्) श्रद्धा [सत्य धारण], (यज्ञम्) श्रेष्ठ कर्म, (महः) बड़मपन (दधत्) देता हुआ (नः) हमारे (गृहे) घर में (वसतु) वसे॥४॥

भावार्थ—मनुष्य वेदों के नित्य विचार से श्रद्धावान्, यशस्वी और परोपकारी होवें ॥ ४ ॥

तस्मै॑ घृ॒तं सुरां॒ मध्वन्न॑मन्नं क्षदामहे । स नः॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रेभ्यः॒ श्रेयः॑श्रेयश्चिकित्सतु॒ भूयो॑भूयः॒ श्वः॑श्वो दे॒वेभ्यो॑ म॒णिरेत्य॑ ॥५॥

तस्मै॑ । घृ॒तम् । सुरा॑म् । मधु॑ । अन्न॑म्-अन्नम् । क्ष॒दा॒म॒हे॒ ॥ सः । नः॒ । पि॒ता-इ॑व । पु॒त्रेभ्यः॑ । श्रेयः॑-श्रेयः । चि॒कि॒त्स॒तु॒ ॥ भूयः॑-भूयः । श्वः॑-श्वः । दे॒वेभ्यः॑ । म॒णिः । आ॒-इत्य॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [वैदिक नियम की प्राप्ति] के लिये (मधु) मधुविद्या [यथार्थज्ञान], (सुराम्) ऐश्वर्य, (घृतम्) तेज और (अन्नमन्नम्) अन्न पर अन्न को (क्षदामहे) हम बांटते हैं । (सः) वह (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (देवेभ्यः) विद्वानों से (एत्य) आकर (नः) हमें, (पिता इव) पिताके समान (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये, (श्रेयःश्रेयः) कल्याण के पीछे

(श्रद्धाम्) सत्यधारणम् । विश्वासम् (यज्ञम्) श्रेष्ठव्यवहारम् (महः) महत्त्वम् (दधत्) प्रयच्छन् (गृहे) (वसतु) तिष्ठतु (नः) अस्माकम् (अतिथिः) अ० ७ । २१ । १ । अत सातत्यगमने—इथिन् । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः ॥

५—(तस्मै) तस्य प्राप्तये (घृतम्) तेजः (सुराम्) अ० ६ । ६६ । १ । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः–क, टाप् । ऐश्वर्यम् (मधु) मधुविद्याम् । यथार्थज्ञानम् (अन्नमन्नम्) अन्नस्य पश्चादन्नम् (क्षदामहे) क्षद संवेषणे भक्षणे विभागे च, सौत्रः । वण्टयामः (सः) वैदिकनियमः (नः) अस्मभ्यम् (पिता इव) (पुत्रेभ्यः) (श्रेयःश्रेयः) कल्याणस्या परिकल्याणम् (चिकित्सतु) कित रोगापनयने । वैद्यवत् प्रज्ञापयतु (भूयोभूयः) बहुतरं बहुतरम् (श्वः श्वः) नित्यमागामिनि दिने (देवेभ्यः) विदुषां सकाशात् (मणिः) प्रशंसनीयो वैदिकनियमः (एत्य) आगत्य ॥]

कल्याण को (भूयोभूयः) बहुत बहुत, (श्वः श्वः) कल्य के पीछे कल्य [नित्य आगामी कालमें] (चिकित्सतु) वैद्यरूप से बतावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेद विद्या की प्राप्ति के लिये अपनी शरीर रक्षा कर के दूसरों को विद्यादान आदि करते हैं, वे संसार में नित्य नये आनन्द भोगते हैं ५.

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । मणिम् । फालम् । घृत-श्चुतम् । उग्रम् । खदिरम् । ओजसे ॥ तम् । अग्निः । प्रति । अमुञ्चत । सः । अस्मै । दुहे । आज्यम् । भूयः-भूयः । श्वः-श्वः । तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (यम्) जिस (फालम्) फल के ईश्वर, (घृतश्चुतम्) प्रकाश की वरसा करने वाले, (उग्रम्) बलवान्, (खदिरम्) स्थिर गुण वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ओजसे) बल के लिये (अबध्नात्) बांधा है [बनाया है] । (तम्) उस [नियम] को (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान तेजस्वी पुरुष] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, (सः) वह [नियम] (अस्मै) इस [तेजस्वी] के लिये (आज्यम्) पाने योग्य पदार्थ को (भूयोभूयः) बहुत, बहुत, (श्वःश्वः) कल्य के पीछे कल्य [नित्य आगामी काल में] (दुहे)

६—(यम्) (अबध्नात्) नियतवान् । कृतवान् (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहत्+पति, सुट्, तलोपः । बृहतां ब्रह्माण्डानां पालकः परमेश्वरः (मणिम्) म० २ प्रशंसनीयं वैदिकनियमम् (फालम्) म० २ । फलस्येश्वरम् (घृतश्चुतम्) प्रकाशवर्षकम् (उग्रम्) तेजस्विनम् (खदिरम्) अ० ३ । ६ । १ खद स्थैर्य्यहिंसयोः—किरच् । स्थिरगुणम् (ओजसे) बलाय (तम्) मणिम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (प्रति अमुञ्चत) स्वीकृतवान् (सः) वैदिकनियमः (अस्मै) तेजस्विने पुरुषाय (दुहे) दुग्धे । प्रपूरयाति (आज्यम्) अ० ५ । ८ । १ । आङ्+अञ्जू गतौ—क्यप् । गम्यं प्राप्यं पदार्थम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

पूरा करना है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) बैरियों को (जहि) मार ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस ईश्वर नियम से अग्नि पदार्थों में व्यापकर बल बढ़ाता है उस वैदिक नियम को विद्वान् लोग परम्परा मान कर अपना कर्तव्य करते आये हैं, उसी नियम को प्रत्येक मनुष्य ग्रहण करके सब शत्रुओं को नाश करे ६

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्म् णिं० । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् । सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ७ ॥

० तम् । इन्द्रः । प्रति । अमुञ्चत । ओजसे । वीर्याय । कम् ॥ सः । अस्मै । बलम् । इत् । दुहे । भूयः-भूयः । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (यम्) जिस······म० ६ । (तम्) उस [वैदिक नियम] को (इन्द्रः) इन्द्र [मेघ समान उपकारी पुरुष] ने (ओजसे) बल के लिये और (वीर्याय) पराक्रम के लिये (कम्) सुख से (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है । (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [उपकारी] के लिये (इत्) ही (बलम्) बल को (भूयोभूयः) बहुत बहुत ·····म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर की आज्ञा से मेघ वृष्टि द्वारा अन्न आदि उत्पन्न करके संसार में पुष्टि करता है, उसी परमात्मा की उपासना से बल प्राप्त करके विद्वान् लोग सदा उपकार करते रहे हैं और करते रहें ॥ ७ ॥

यमब०। तं सोमः प्रत्यमुञ्चत मुहे श्रोत्राय चक्षसे । सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ८ ॥

० तम् । सोमः । प्रति । अमुञ्चत । मुहे । श्रोत्राय । चक्षसे ॥ ० अस्मै । वर्चः । इत् । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर

७—(इन्द्रः) मेघ इवोपकारी पुरुषः (ओजसे) बलाय (वीर्याय) वीरकर्मणे । पराक्रमाय (कम्) सुखेन (बलम्) सामर्थ्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(सोमः) सोमरसः । अन्नाद्यमृतपदार्थः (महे) मह पूजायाम्-क्विप्

ने (यम्) जिस······म० ६। (तम्) उस [वैदिक नियम] को (सोमः) सोम [सोमरस, अन्न आदि अमृत समान सुख उत्पन्न करने वाले पुरुष] ने (महे) महत्त्व के लिये, (श्रोत्राय) श्रवण सामर्थ्य के लिये और (चक्षसे) दर्शन सामर्थ्य के लिये (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (इत्) ही (वर्चः) तेज (भूयोभूयः) बहुत बहुत······म० ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के नियम से अन्न आदि अमृत पदार्थ शरीर को पुष्ट कर इन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं, उसी परमात्मा के ज्ञान से पूर्वजों के समान दूरदर्शी होकर सब लोग सुख वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यमब०। तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ९ ॥

० तम्। सूर्यः। प्रति। अमुञ्चत। तेन। इमाः। अजयत्। दिशः ॥ ० अस्मै। भूतिम्। इत्। ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (यम्) जिस······म० ६ (तम्) उस [वैदिक नियम] को (सूर्यः) सूर्य [सूर्य समान राज्य चलाने वाले वीर] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (इमाः दिशः) इन दिशाओं को (अजयत्) जीता है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [वीर पुरुष) के लिये (इत्) ही (भूतिम्) विभूति [सम्पत्ति] (भूयोभूयः) बहुत बहुत···म० ६ ॥९॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने परिधि के लोकों को आकर्षण द्वारा मर्यादा में चलाता है, उसी प्रकार नीति निपुण राजा परमेश्वरनियम से प्रजा का सुख बढ़ा कर अपना अभ्युदय करे ॥ ९ ॥

महत्त्वाय (श्रोत्राय) श्रवणसामर्थ्याय (चक्षसे) दर्शनसामर्थ्याय (वर्चः) तेजः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(सूर्यः) सूर्यवत्सविता राज्यप्रेरको वीरः (इमाः) दृश्यमानाः (अजयत्) वशीकृतवान् (दिशः) पूर्वादयः (भूतिम्) विभूतिम्। सम्पत्तिम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १० ॥ (१८)

० बृहस्पतिः। मणिम्। फालम्। घृत-श्चुतम्। उग्रम्। खदिरम्। ओजसे ॥ तम्। बिभ्रत्। चन्द्रमाः। मणिम्। असुराणाम्। पुरः। अजयत्। दानवानाम्। हिरण्ययीः॥ ० अस्मै। श्रियम्। इत्। दुहे। ० ॥ १० ॥ (१८)

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (यम्) जिस (फालम) फल के ईश्वर, (घृतश्चुतम्) प्रकाश की वरसा करने वाले, (उग्रम्) बलवान्, (खदिरम्) स्थिर गुण वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ओजसे) बल के लिये (अबध्नात्) बांधा है [बनाया है]। (तम्) उस (मणिम्) मणि [वैदिक नियम] को (बिभ्रत्) धारण करने वाले (चन्द्रमाः) चन्द्रमा [चन्द्रमा समान आनन्दकारी पुरुष] ने (असुराणाम्) असुरों [देवताओं के विरोधियों] और (दानवानाम्) दानवों [छेदनस्वभाव वाले दुष्टों] की (हिरण्ययीः) सुवर्णमयी (पुरः) नगरियों को (अजयत्) जीता है, (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [आनन्दकारी पुरुष] के लिये (इत्) ही (श्रियम्) श्री [सेवनीय सम्पत्ति] (भूयोभूयः) बहुत बहुत······म० ८ ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे चन्द्रमा अपने शीतलता आदि गुण से प्राणियों को पुष्ट करता है, उसी प्रकार पूर्व महात्माओं के समान परमेश्वर की महिमा को साक्षात् करके दूरदर्शी विवेकी पुरुष संसार में सुख वृद्धि करे ॥ १० ॥

१०—(चन्द्रमाः) अ० ५। २४। १०। चन्द्र इवाह्लादकः पुरुषः (असुराणाम्) देवविरोधिनाम् (पुरः) नगरीः (अजयत्) जितवान् (दानवानाम्) अ० ४। २४। २। दा छेदने—ल्युट्, मत्वर्थे व। छेदनशीलानाम्। दुष्टानाम् (हिरण्ययीः) सुवर्णमयीः (श्रियम्) सेवनीयां सम्पत्तिम्। अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयो-भूयः ० ॥ ११ ॥
० बृहस्पतिः । वाताय । मणिम् । आशवे ॥ सः । अस्मै ।
वाजिनम् । दुहे । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (वाताय) गमन शील (आशवे) भोक्ता [प्राणी] के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (वाजिनम्) बल (भूयोभूयः) बहुत बहुत......म० ६ ॥ ११ ॥

भावार्थ—अनुभवी विद्वानों के समान पुरुषार्थी मनुष्य वैदिक नियम से यथावत् बल बढ़ा कर विघ्नों को हटावे ॥ ११ ॥

यमब० । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयो-भूयः ० ॥ १२ ॥
० तेन । इमाम् । मणिना । कृषिम् । अश्विना । अभि ।
रक्षतः ॥ सः । भिषक्-भ्याम् । महः । दुहे । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को......म० ११ (अबध्नात्) बांधा है। (तेन) उस (मणिना) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] से (इमाम् कृषिम्) इस खेती की (अश्विनौ) कामों में व्याप्ति वाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अभि रक्षतः) रक्षा करते रहते हैं (सः) वह

११—(वाताय) अ० १ । १२ । ६ । वा गतौ-तन् । गमनशीलाय । उद्योगिने (आशवे) कृवापा० । उ० १ । १ । अश भोजने-उण् । भोक्त्रे प्राणिने (वाजिनम्) महेरिनण च । उ० २ । ५६ । वज गतौ-इनण् । बलम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(तेन) (इमाम्) (मणिना) प्रशंसनीयेन वैदिकनियमेन (कृषिम्) कृषिरूपं संसारम् (अश्विनौ) अ० २ । २९ । ६ । कार्येषु व्यापिनौ स्त्रीपुरुषौ

[वैदिक नियम] (भिषग्भ्याम्) उन दोनों वैद्यों के लिये (महः) बड़ाई (भूयोभूयः) बहुत बहुत……म० ६ ॥ १२ ॥

भावार्थ—वैदिक विज्ञान द्वारा स्त्री पुरुष खेती रूप इस संसार के व्यवहार को सिद्ध कर के सुख भोगें ॥ १२ ॥

यमबं० । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः । सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः ० ॥ १३ ॥

० तम् । बिभ्रत् । सविता । मणिम् । तेन । इदम् । अजयत् । स्वः ॥ सः । अस्मै । सूनृताम् । दुहे । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिकनियम] को……म० ११ (अवध्नात्) बांधा है । (तम्) उस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बिभ्रत्) धारण करके (सविता) सब के चलाने वाले [मनुष्य] ने (तेन) उस [वैदिक नियम] द्वारा (इदम् स्वः) यह सुख (अजयत्) जीता है । (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (सूनृताम्) प्रिय सत्य वाणी को (भूयोभूयः) बहुत बहुत…म०६ ॥१३

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा सुशिक्षा प्राप्त करके सत्य और हित वचन बोलकर आनन्दित होवे ॥ १३ ॥

यमबं० । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः । स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः ० ॥ १४ ॥

० तम् । आपः । बिभ्रतीः । मणिम् । सदा । धावन्ति । अक्षिताः ॥ सः । आभ्यः । अमृतम् । इत् । दुहे । ० ॥ १४ ॥

(अभि रक्षतः) (सः) (भिषग्भ्याम्) वैद्याभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० ६ ॥

१३—(बिभ्रत्) धारयन् (सविता) सर्वप्रेरकः पुरुषः (स्वः) सुखम् । स्वर्गम् (अस्मै) प्राणिने (सूनृताम्) अ० ३।१२।२। प्रियसत्यात्मिकां वाणीम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को……म० ११ (अवध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (मणिम्) [प्रशंसनीय वैदिय नियम] को (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (आपः) प्रजायें (अक्षिताः) अक्षीण होकर (सदा) सदा (धावन्ति) दौड़ती हैं। (सः) वह [वैदिक नियम] (आभ्यः) इन [प्रजाओं] के लिये (इत्) ही (अमृतम्) अमृत [पुरुषार्थ] को (भूयोभूयः) बहुत बहुत……म० ६ ॥ १४ ॥

भावार्थ—सब प्राणी वैदिक ज्ञान से निरालसी और स्वस्थ रहकर सदा प्रयत्न करते रहें ॥ १४ ॥

यमब०। तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम्। सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १५ ॥

० तम्। राजा। वरुणः। मणिम्। प्रति। अमुञ्चत। शम्-भुवम् ॥ सः। अस्मै। सत्यम्। इत्। ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम को……म० ११ (अवध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (शंभुवम्) शान्तिकारक (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) राजा ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [राजा] के लिये (इत्) ही (सत्यम्) सत्य को (भूयोभूयः) बहुत बहुत……म० ६ ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा प्राचीन इतिहासों को विचार कर वैदिक शिक्षा स्वीकार करके सत्य के प्रचार में सदा प्रवृत्त रहे ॥ १५ ॥

१४—(आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७ (बिभ्रतीः) धारयन्त्यः (सदा) (धावन्ति) वेगेन गच्छन्ति (अक्षिताः) अक्षीणाः (आभ्यः) प्रजाभ्यः (अमृतम्) मरणराहित्यम्। पुरुषार्थम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(राजा) शासकः (वरुणः) वरणीयः। श्रेष्ठः (प्रत्यमुञ्चत) स्वीकृतवान् (शंभुवम्) शम्+भू-क्विप्। शान्तिकारकम् (अस्मै) राज्ञे (सत्यम्) यथार्थम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यमब०। तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाजयन्।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १६ ॥

०तम्। देवाः। बिभ्रतः। मणिम्। सर्वान्। लोकान्। युधा।
अजयन् ॥ सः। एभ्यः। जितिम्। इत्। ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को..... म० ११ (अबध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (देवाः) विजयी लोगों ने (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (युधा) युद्ध से (अजयन्) जीता है। (सः) वह [वैदिक नियम] (एभ्यः) इन [विजयी लोगों] के लिये (इत्) ही (जितिम्) जीत (भूयोभूयः) बहुत बहुत .....म० ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पुरुषार्थी लोगों ने ईश्वर नियम पर चलकर विजय पाया है, वैसेही सब मनुष्य वेद विद्या द्वारा निरालसी होकर दुःखों से अलग होवें ॥ १६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्। स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥

यम्। अबध्नात्। बृहस्पतिः। वाताय। मणिम्। आशवे ॥
तम्। इमम्। देवताः। मणिम्। प्रति। अमुञ्चन्त। शम्-भुवम् ॥ सः। आभ्यः। विश्वम्। इत्। दुहे। भूयः-भूयः।
श्वः-श्वः। तेन। त्वम्। द्विषतः। जहि ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम]

१६—(देवाः) विजिगीषवः पुरुषाः (बिभ्रतः) धारयन्तः (सर्वान् लोकान्) (युधा) युद्धेन (अजयन्) जितवन्तः (एभ्यः) देवेभ्यः (जितिम्) जयम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (वाताय) गमनशील (आशवे) भोक्ता [प्राणी] के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (तम् इमम्) उस ही (शंभुवम्) शान्तिकारक (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (देवताः) देवताओं [विद्वानों] ने (प्रति अमुञ्चन्त) स्वीकार किया है। (सः) वह [वैदिक नियम] (आभ्यः) इन [देवताओं] के लिये (इत्) ही (विश्वम्) प्रत्येक वस्तु (भूयोभूयः) बहुत बहुत, (श्वः श्वः) कल्य के पीछे कल्य [अर्थात् नित्य आगामी समय में] (दुहे) पूरा करता है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥१७॥

भावार्थ—ईश्वर विहित वैदिक नियम को विद्वान् मानकर सदा आनन्द पाते रहे हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य वेदमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥१७॥

ऋ॒तव॒स्तम॑बध्नतार्त॒वास्तम॑बध्नत ।
सं॒व॒त्स॒रस्तं ब॒द्ध्वा सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति ॥ १८ ॥

ऋ॒तवः॑ । तम् । अ॒ब॒ध्न॒त॒ । आ॒र्त॒वाः । तम् । अ॒ब॒ध्न॒त॒ ॥
स॒म्ऽव॒त्स॒रः । तम् । ब॒द्ध्वा । सर्व॑म् । भू॒तम् । वि । र॒क्ष॒ति॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ऋतवः) ऋतुओं ने (तम्) उस [मणि, वैदिक नियम] को (अबध्नत) बांधा है, (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयवों ने (तम्) उस को (अबध्नत) बांधा [माना] है, (संवत्सरः) संवत्सर [वर्ष वा काल] (तम्) उसको (बद्ध्वा) बांधकर (सर्वम्) सब (भूतम्) जगत् को (वि) विविध प्रकार (रक्षति) पालता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—कारण और कार्य रूप काल परमात्मा के नियम से संसार का उपकार करता है ॥ १८ ॥

अ॒न्तर्दे॑शा अ॑बध्नत प्र॒दिश॒स्तम॑बध्नत ।

१७—(देवताः) विद्वांसः (प्रति अमुञ्चन्त) स्वीकृतवन्तः (आभ्यः) देवताभ्यः (विश्वम्) प्रत्येकं वस्तु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(ऋतवः) वसन्तादयः कालविशेषाः (तम्) नियमम् (अबध्नत) गृहीतवन्तः (आर्तवाः) ऋतु—अण् । ऋतूनामवयवाः (संवत्सरः) वर्षकालः (बद्ध्वा) गृहीत्वा (सर्वम् (भूतम्) जगत् (वि) विविधम् (रक्षति) पाति ॥

प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥

अन्तः-देशाः। अबध्नत । प्र-दिशः। तम् । अबध्नत ॥ प्रजा-पति-सृष्टः । मणिः । द्विषतः । मे । अधरान् । अकः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अन्तर्देशाः) अन्तर्देशों ने (अबध्नत) [वैदिक नियम को] बांधा है, (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं ने (तम्) उस [वैदिक नियक] को (अबध्नत) बांधा है। (प्रजापतिसृष्टः) प्रजापति [परमात्मा] के उत्पन्न किये हुये (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] ने (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (अधरान्) नीचे (अकः) किया है ॥ १९ ॥

भावार्थ—सब स्थानों के पदार्थ ईश्वर नियम अनुसार मनुष्य का उपकार करते हैं ॥ १९ ॥

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत । तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१९)

अथर्वाणः । अबध्नत । आथर्वणाः । अबध्नत ॥ तैः । मेदिनः । अङ्गिरसः । दस्यूनाम् । बिभिदुः । पुरः । तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ २० ॥ (१९)

भाषार्थ—(अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले [ऋषियों] ने [वैदिक नियम] (अबध्नत) बांधा [माना] है, (आथर्वणाः) निश्चल परमात्मा के जानने वाले [विवेकियों] ने [उसे] (अबध्नत) बांधा है। (तैः) उन [विवेकियों] के साथ (मेदिनः) स्नेही वा बुद्धिमान् (अङ्गिरसः) ऋषियों ने (दस्यू-

१९—(अन्तर्देशाः) अन्तराला दिशाः (प्रदिशः) पूर्वादयो दिशाः (प्रजापतिसृष्टः) प्रजापालकेन परमेश्वरेणोत्पन्नः (मणिः) प्रशस्तो वैदिकनियमः (द्विषतः) शत्रून् (मे) मम (अधरान्) नीचान् (अकः) अकार्षीत् । कृतवान् । अन्यद् गतम् ॥

२०—(अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । अ + थर्व चरणे-वनिप् । निश्चलस्वभावा मुनयः (अबध्नत) आथर्वाणः) अ० ६ । १ । १ । अथर्वन्-अण्, ज्ञाने । अथर्वाणं निश्चलस्वभावं परमात्मानं ये जानन्ति ते महर्षयः (तैः)

नाम्) डाकुओं की (पुरः) नगरियों को (बिभिदुः) तोड़ा था, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर नियम पर चल कर विद्वानों की सहायता से दूसरे विद्वानों ने संसार में जीत पाई है, उसी प्रकार सब मनुष्य परस्पर सहायक होकर विघ्नों का नाश करें ॥ २० ॥

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् ।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

तम् । धाता । प्रति । अमुञ्चत । सः । भूतम् । वि । अकल्पयत् ॥ तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [वैदिक नियम] को (धाता) धारण कर्ता [राजा] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, और (सः) उसने (भूतम्) जगत् को (वि अकल्पयत्) संभाला है। (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे राजा वेद द्वारा राज्य का प्रबन्ध करता है वैसे ही प्रत्येक मनुष्य करे ॥ २१ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । देवेभ्यः । असुर-क्षितिम् ॥ सः । मा । अयम् । मणिः । आ । अगमत् । रसेन । सह । वर्चसा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक [वैदिकनियम]

आथर्वणैः सह (मेदिनः) ञि मिदा स्नेहने, यद्वा, मिद मेदृ मेधाहिंसनयोः—णिनि। स्नेहिनः। मेधाविनः (अङ्गिरसः) अ० २। १२। ४। ज्ञानिनो महर्षयः (दस्यूनाम्) चौराणाम् (बिभिदुः) विच्छिदुः (पुरः) नगरीः। अन्यद् गतम् ॥

२१—(तम्) (धाता) प्रजापालको राजा (भूतम्) जगत् (वि) विविधम् (अकल्पयत्) संस्कृतवान्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२२—(यम्) (अबध्नात्) बद्धवान्। नियोजितवान्। (बृहस्पतिः)

को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (देवेभ्य) विजयी लोगों के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (रसेन) पराक्रम और (वर्चसा सह) प्रताप के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ ॥ २२ ॥

भावार्थ—परमात्मा के बांधे नियम पर चल कर सब मनुष्य बल और कीर्ति बढ़ावें ॥ २२ ॥

यमबं० । स मायं मुणिरागमत् सुह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजयां सुह ॥ २३ ॥

० अगमत् । सुह । गोभिः । अजावि-भिः । अन्नेन । प्र-जयां । सुह ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक......म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (गोभिः) गौओं और (अजाविभिः सह) बकरी और भेड़ों के साथ, (अन्नेन) अन्न और (प्रजया सह) प्रजा [सन्तान] के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम पर चलकर गौ आदि प्राणियों से उपकार लेकर सुखी रहे ॥ २३ ॥

यमबं० । स मायं मुणिरागमत् सुह ब्रीहियवाभ्यां महसा भूत्यां सुह ॥ २४ ॥

० अगमत् । सुह । ब्रीहि-यवाभ्याम् । महसा । भूत्यां । सुह २४

बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी (देवेभ्यः) विजयिभ्यः (असुरक्षितिम्) दुष्टनाशकम् (सः) (मा) माम् (अयम्) एव (मणिः) (आगमत्) प्राप्तवान् (रसेन) पराक्रमेण (सह) (वर्चसा) प्रतापेन ॥

२३—(अजाविभिः) अजाश्च अवयश्च ताभिः (प्रजया) सन्तानेन सह । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक...... म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (व्रीहियवाभ्याम् सह) चावल और जव के साथ और (महसा) बड़ाई और (भूत्या सह) विभूति [सम्पत्ति] के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है॥ २४

भावार्थ—मनुष्य धर्म से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके यश और ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २४ ॥

यमब०। स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥

० अगमत्। मधोः। घृतस्य। धारया। कीलालेन। मणिः। सह २५

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक...... म० २२। (सः अयम्) वह (मणिः) प्रशंसनीय (मणिः) मणि [वैदिक नियम] (मा) मुझे (मधोः) मधुर रस की और (घृतस्य) घृत की (धारया) धारा से (कीलालेन सह) अच्छे पके अन्न के सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है॥ २५ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म से अन्न आदि पदार्थ लाकर निर्वाह करें॥ २५ ॥

यमब०। स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥

० अगमत्। ऊर्जया। पयसा। सह। द्रविणेन। श्रिया। सह २६

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक......म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (ऊर्जया) पराक्रम और (पयसा सह) ज्ञान के साथ [तथा] (द्रविणेन)

२४—(महसा) महत्त्वेन (भूत्या) सम्पत्या। अन्यत् सुगमम् ॥

२५—(मधोः) मधुररसस्य (घृतस्य) सर्पिषः (धारया) प्रवाहेण (कीलालेन) अ० ४। ११। १०। कीलालमन्ननाम-निघ० २। ७। सुसंस्कृतेनान्नेन। अन्यद् गतम् ॥

२६—(ऊर्जया) पराक्रमेण (पयसा) ज्ञानेन (द्रविणेन) धनेन (श्रिया) सेवनीयया संपत्या। अन्यत् पूर्ववत् ॥

धन और (श्रिया सह) श्री [सेवनीय सम्पत्ति] के सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म्मानुसार पराक्रमी, ज्ञानी, धनी और ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २६ ॥

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् तेज॑सा॒ त्विष्या॒ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या॑ स॒ह ॥ २७ ॥

० अ॒ग॒म॒त् । तेज॑सा । त्विष्या॑ । स॒ह । यश॑सा । की॒र्त्या॑ । स॒ह ॥२७॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक ...... म० २२ । (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (तेजसा) तेज और (त्विष्या सह) शोभा के साथ [तथा] (यशसा) यश और (कीर्त्या सह) कीर्त्ति के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम से पुरुषार्थी होकर प्रतापी और यशस्वी होवें ॥ २७ ॥

यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥

यम् । अब॑ध्नात् । बृ॒ह॒स्पतिः॑ । दे॒वेभ्यः॑ । असु॑र-क्षितिम् ॥
सः । मा॒ । अ॒यम् । म॒णिः । आ । अ॒ग॒म॒त् । सर्वा॑भिः । भूति॑-भिः । स॒ह ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुर नाशक [वैदिक नियम] को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (देवेभ्यः) विजयी लोगों के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (सर्वाभिः) सब प्रकार की (भूतिभिः सह) सम्पत्तियों सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥

२७—(त्विष्या) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। त्विष दीप्तौ-इन्, कित्। दीप्त्या। शोभया। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२८—(भूतिभिः) विभूतिभिः। सम्पत्तिभिः। सिद्धिभिः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के नियम पर चलकर सब प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त करें ॥ २८ ॥

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये ।
अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥

तम् । इमम् । देवताः । मणिम् । मह्यम् । ददतु । पुष्टये ॥
अभि-भुम् । क्षत्र-वर्धनम् । सपत्न-दम्भनम् । मणिम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(देवताः) देवता [विद्वान् जन] (मह्यम्) मुझे (पुष्टये) पुष्टि [वृद्धि] के लिये (तम् इमम्) उस ही (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम], (अभिभुम्) [शत्रुओं को] हराने वाले, (क्षत्रवर्धनम्) राज्य बढ़ाने वाले, (सपत्नदम्भनम्) वैरियों के दबाने वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ददतु) दान करें ॥ २९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वैदिक मार्ग पर चल कर सब के पालन पोषण के लिये राज्य आदि व्यवहार सिद्ध करें ॥ २९ ॥

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

ब्रह्मणा । तेजसा । सह । प्रति । मुञ्चामि । मे । शिवम् ॥
असपत्नः । सपत्न-हा । स-पत्नान् । मे । अधरान् । अकः ॥ ३० ॥ (२०)

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) वेद द्वारा (तेजसा सह) प्रकाश के साथ (मे) अपने लिये (शिवम्) शिव [मङ्गलकारी परमात्मा] को (प्रति मुञ्चामि) मैं स्वीकार करता हूं । (असपत्नः) शत्रु रहित, (सपत्नहा) शत्रुनाशक [परमे-

---

२९—(देवताः) विद्वज्जनाः (ददतु) प्रयच्छन्तु (पुष्टये) पालनाय (अभिभुम्) शत्रूणामभिभवितारं पराजेतारम् (क्षत्रवर्धनम्) राज्यवर्धकम् (सपत्नदम्भनम्) शत्रुनाशकम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३०—(ब्रह्मणा) वेदद्वारा (तेजसा) प्रकाशेन सह (प्रति मुञ्चामि) स्वीकरोमि (मे) मह्यम् । आत्मने (शिवम्) मङ्गलप्रदं परमात्मानम् (असपत्नः) शत्रुनाशकः (सपत्नान्) शत्रून् (मे) मम (अधरान्) नीचान् (अकः)

श्वर] ने (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (अकः) कर दिया है ॥ ३० ॥

भावार्थ—वेद द्वारा परमात्मा के विचार से जिनकी बुद्धि प्रकाशमयी हो जाती है वे अपने शत्रुओं को नाश करके सुख पाते हैं ॥ ३० ॥

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः ।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

उत्-तरम् । द्विषतः । माम् । अयम् । मणिः । कृणोतु । देव-जाः ॥ यस्य । लोकाः । इमे । त्रयः । पयः । दुग्धम् । उप-आसते ॥ सः । मा । अयम् । अधि । रोहतु । मणिः । श्रैष्ठ-याय । मूर्धतः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवजाः) देव [परमेश्वर] से उत्पन्न (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (द्विषतः) वैरी से (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (कृणोतु) करे । (इमे) यह (त्रयः) तीनों [सृष्टि, स्थिति और प्रलय] (लोकाः) लोक (यस्य) जिस [वैदिक नियम] के (दुग्धम्) पूर्ण (पयः) ज्ञान को (उपासते) भजते हैं । (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (मूर्धतः) शिर पर से (श्रैष्ठ्याय) प्रधान पद के लिये (अधि) ऊपर (रोहतु) चढ़ावे ॥३१॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर प्रणीत सत्य नियम को मानकर संसार में प्रधान पद प्राप्त करे ॥ ३१ ॥

अ० १ । ८ । १ । अकार्षीत् । कृतवान् ॥

३१—(उत्तरम्) उच्चतरम् (द्विषतः) शत्रुसकाशात् (मा) माम् (अयम्) (मणिः) प्रशस्तो वैदिकनियमः (कृणोतु) करोतु (देवजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । देव+जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नस्य आत्वम् । देवात् परमेश्वराज् जातः (यस्य) (लोकाः) (इमे) (त्रयः) सृष्टिस्थितिप्रलयरूपाः (पयः) पय गतौ-असुन् । ज्ञानम (दुग्धम्) प्रपूर्णम् (उपासते) पूजयन्ति (सः) (मा) माम् (अयम्) (अधि) उपरि (रोहतु) रोहयतु (मणिः) (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपदाय (मूर्धतः) मस्तकात् ॥

यं दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ उप॒जीव॑न्ति स॒र्व॒दा ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३२॥

यम् । दे॒वाः । पि॒तरः॑ । म॒नु॒ष्याः॑ । उ॒प॒-जीव॑न्ति । स॒र्व॒दा ॥
सः । मा॒ । अ॒यम् । अधि॑ । रो॒ह॒तु॒ । म॒णिः । श्रैष्ठ्या॑य । मू॒र्ध॒तः ३२

भाषार्थ—(देवाः) व्यवहार जानने वाले, (पितरः) पालन करनेवाले और (मनुष्याः) मनन करने वाले लोग (यम्) जिस [वैदिक नियम] के (सर्वदा) सर्वदा (उपजीवन्ति) आश्रय में रहते हैं। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (मूर्धतः) शिर पर से (श्रैष्ठ्याय) प्रधान पद के लिये (अधि) ऊपर (रोहतु) चढ़ावे ॥३२॥

भावार्थ—सब उत्तम पुरुष परमेश्वर के आश्रय से संसार में उच्चपद प्राप्त करें ॥ ३२ ॥

यथा॒ बीज॑मु॒र्वरा॑यां कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति ।
ए॒वा मयि॑ प्र॒जा प॒शवो॒ऽन्न॑मन्नं॒ वि रो॑हतु ॥ ३३ ॥

यथा॑ । बीज॑म् । उ॒र्वरा॑याम् । कृ॒ष्टे । फाले॑न । रोह॑ति ॥ ए॒व ।
मयि॑ । प्र॒-जा । प॒शवः॑ । अन्न॑म्-अन्नम् । वि । रो॒ह॒तु॒ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (बीजम्) बीज (उर्वरायाम्) उपजाऊ धरती में (फालेन) फाल [हल की कोल] से (कृष्टे) जोते हुये [खेत] में (रोहति) उपजता है। (एव) वैसे ही (मयि) मुझ में (प्रजा) प्रजा [सन्तान आदि], (पशवः) पशु [गौ घोड़ा आदि] और (अन्नमन्नम्) अन्न के ऊपर अन्न

३२—(यम्) वैदिकनियमम् (देवाः) व्यवहारकुशलाः (पितरः) पालकाः (मनुष्याः) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलाः (उपजीवन्ति) आश्रयन्ति । अन्यत् पूर्ववत्-म० ३१ ॥

३३—(यथा) येन प्रकारेण (बीजम्) अ० ३ । १७ । २ । उत्पत्तिकारणम् (उर्वरायाम्) उरु—ऋ गतौ-अच्, टाप् । शस्याढ्यायां भूमौ (कृष्टे) विलिखिते क्षेत्रे (फालेन) फल विदारणे-घञ् । लाङ्गलमुखस्थेन लौहेन (रोहति) उत्पद्यते (एव) तथा (मयि) (प्रजा) सन्तानः (पशवः) गवा-

(वि) विविध प्रकार (रोहतु) उत्पन्न होवे ॥ ३३ ॥

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है कि उत्तम अन्न उपजाऊ धरती में क्रिया विशेष द्वारा बोये बीज से उत्तम अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सुशिक्षित गुणी पुरुषों के सुविचारित कर्म से बड़े बड़े उपकारी लाभ होते हैं ॥ ३३ ॥

यस्मै॑ त्वा यज्ञवर्धन॒ मणे॑ प्र॒त्यमु॑चं शि॒वम् । तं त्वं श॒तदक्षिण॒ मणे॒ श्रैष्ठ्या॑य जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

यस्मै॑ । त्वा॒ । य॒ज्ञ॒-व॒र्ध॒न॒ । मणे॑ । प्र॒ति॒-अमु॑चम् । शि॒वम् ॥
तम् । त्वम् । श॒त॒-द॒क्षि॒ण॒ । मणे॑ । श्रैष्ठ्या॑य । जि॒न्व॒ता॒त् ॥३४॥

भाषार्थ—(यज्ञवर्धन) हे श्रेष्ठ व्यवहार बढ़ाने वाले (मणे) मणि ! [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (यस्मै) जिस [पुरुष] के लिये (शिवम् त्वा) तुझ मङ्गलकारी को (प्रत्यमुचम्) मैं ने स्वीकार किया है । (शतदक्षिण) हे सैकड़ों वृद्धि वाले (मणे) मणि ! [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (त्वम्) तू (तम्) उस [पुरुष] को (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपद के लिये (जिन्वतात्) तृप्त कर ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान से अनेक प्रकार वृद्धि करके योग्यता पूर्वक श्रेष्ठ पद प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

ए॒तमि॒ध्मं स॒मा॑हितं जुषा॒णो अग्ने॒ प्रति॑ हर्य॒ होमैः॑ । तस्मि॑न् विदेम सुम॒तिं स्व॒स्ति प्र॒जां चक्षुः॑ प॒शून्त्समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि॒ ब्रह्म॑णा ॥ ३५ ॥ (२१)

ए॒तम् । इ॒ध्मम् । स॒म्-आ॑हितम् । जु॒षा॒णः । अग्ने॑ । प्रति॑ । ह॒र्य॒ । होमैः॑ ॥ तस्मि॑न् । वि॒दे॒म॒ । सु॒-म॒तिम् । स्व॒स्ति । प्र॒-

---

श्वादयः (अन्नमन्नम्) बहुपरिमाणमन्नम् (वि) विविधम् (रोहतु) जायताम् ॥

३४—(यस्मै) पुरुषहिताय (त्वा) (यज्ञवर्धन) हे श्रेष्ठव्यवहारवर्धक (मणे) (प्रत्यमुचम्) अहं स्वीकृतवान् (शिवम्) (मङ्गलकारकम्) (तम्) पुरुषम् (त्वम्) (शतदक्षिण) बहुप्रकारवृद्धियुक्त (मणे) (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपदाय (जिन्वतात्) तर्पय ॥

जाम् । चक्षुः । पशून् । सम्-इद्धे । जात-वेदसि । ब्रह्मणा ३५(२१)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [अग्नि समान तेजस्वी मनुष्य] (एतम्) इस (समाहितम्) ध्यान किये गये (इध्मम्) प्रकाशस्वरूप [परमेश्वर] को, (जुषाणः) प्रसन्न होकर तू (होमैः) दानों [आत्मसमर्पणों] से (प्रति हर्य) प्रत्यक्ष प्रीतिकर । (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (समिद्धे) प्रकाशित (तस्मिन्) उस (जातवेदसि) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले [परमात्मा] में (सुमतिम्) सुमति, (स्वस्ति) सुसत्ता [कुशल], (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] (चक्षुः) दृष्टि और (पशून्) पशुओं को (विदेम) हम पावें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रीतिपूर्वक परमात्मा का ध्यान रखकर सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३५ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ [स्कम्भसूक्तम्] ॥

१—४४ ॥ स्कम्भो ज्येष्ठं ब्रह्म देवता ॥ १, १७, ३५ जगती; २, ४, ५, ६, ८, ६, भुरिक् त्रिष्टुप् ; ३, ३८, ४२, ४३, त्रिष्टुप् ; ७, १३, परोष्णिक् ; १०, १४, १६, १८, १६ उपरिष्टाद् बृहती ; ११, १२, १५, २०, २२ उपरिष्टाद् ज्योतिर्जगती; २१ भुरिगनुष्टुप् ; २३—३०, ३७, ४०, अनुष्टुप् ; ३१ आर्षी जगती; ३२—३४, ३६ विराडुपरिष्टाद्बृहती ; ३६ भुरिगुपरिष्टाज् ज्योतिर्जगती ; ४१ गायत्री ; ४४ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मस्वरूपनिरूपणोपदेशः—ब्रह्मके स्वरूप के विचारका उपदेश ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्या-

३५—(एतम्) प्रसिद्धम् (इध्मम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (समाहितम्) सम्यग् ध्यातम् (जुषाणः) प्रीतः सन् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् विद्वन् (प्रति) प्रत्यक्षम् (हर्य) कामयस्व (होमैः) दानैः । आत्मसमर्पणैः (तस्मिन्) (विदेम) प्राप्नुयाम (सुमतिम्) कल्याणबुद्धिम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । शुभम् (प्रजाम्) (चक्षुः) दृष्टिम् (पशून्) (समिद्धे) प्रकाशिते (जातवेदसि) अ० १ । ७ । २ । उत्पन्नपदार्थानां ज्ञातरि (ब्रह्मणा) वेदद्वारा ॥

हितम् । क्वं व्रतं क्वं श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

कस्मिन् । अङ्गे । तपः । अस्य । अधि । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे । ऋतम् । अस्य । अधि । आ-हितम् ॥ क्वं । व्रतम् । क्वं । श्रद्धा । अस्य । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे । सत्यम् । अस्य । प्रति-स्थितम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सर्वव्यापक ब्रह्म] के (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि तपश्चरण वा ऐश्वर्य] (अधि तिष्ठति) जमकर ठहरता है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (ऋतम्) सत्यशास्त्र [वेद] (अधि) दृढ़ (आहितम्) स्थापित है। (अस्य) इस के (क्व) कहां पर (व्रतम्) व्रत [नियम], (क्व) कहां पर (श्रद्धा) श्रद्धा [सत्य में दृढ़ विश्वास] (तिष्ठति) स्थित है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (सत्यम्) सत्य [यथार्थ कर्म] (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जिज्ञासु के प्रश्नों का उत्तर आगे मन्त्र ४ में है । अर्थात् सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, निराकार परमात्मा की सत्ता मात्र में सब तप, वेद आदि और अग्नि, वायु आदि ठहरे हैं ॥ १ ॥

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा । कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

कस्मात् । अङ्गात् । दीप्यते । अग्निः । अस्य । कस्मात् । अङ्गात् ।

१—(कस्मिन्) (अङ्गे) अवयवे (तपः) ब्रह्मचर्यादि तपश्चरणम् । ऐश्वर्यम् । सामर्थ्यम् (अस्य) ब्रह्मणः (अधि) दृढम् (तिष्ठति) वर्तते (कस्मिन् अङ्गे) (ऋतम्) सत्यशास्त्रम् । वेदज्ञानम् (अस्य) (अधि) (आहितम्) स्थापितम् (क्व) कुत्र । कस्मिन्नङ्गे (व्रतम्) वरणीयो नियमः (क्व) (श्रद्धा) सत्ये दृढविश्वासः (अस्य) (तिष्ठति) (कस्मिन् अङ्गे) (सत्यम्) यथार्थं कर्म (अस्य) (प्रतिष्ठितम्) दृढतया स्थितम् ॥

पवते । मातरिश्वा ॥ कस्मात् । अङ्गात् । वि । मिमीते । अधि । चन्द्रमाः । महः । स्कम्भस्य । मिमानः । अङ्गम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सर्वव्यापक ब्रह्म] के (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) चमकता है, (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु] (पवते) झोके लेता है। (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (महः) विशाल (स्कम्भस्य) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] के (अङ्गम्) अङ्ग [स्वरूप] को (मिमानः) मापता हुआ (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वि) विविध प्रकार (अधि मिमीते) [अपना मार्ग] मापता रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥३॥

कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । भूमिः । अस्य । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । अन्तरिक्षम् ॥ कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । आऽहिता । द्यौः । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । उत्ऽतरम् । दिवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (सर्वव्यापक ब्रह्म) के (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (भूमिः) भूमि (तिष्ठति) ठहरती है, (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (तिष्ठति) ठहरता है। (कस्मिन् अङ्गे) कौन से

२—(कस्मात् अङ्गात्) (दीप्यते) प्रकाशते (अग्निः) प्रसिद्धो वह्निः (अस्य) परमेश्वरस्य (पवते) पवते गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । गच्छति (मातरिश्वा) अ० ५ । १० । ८ । आकाशे गन्ता वायुः (वि) विविधम् (मिमीते) मानं करोति स्वमार्गस्य (अधि) उपरि (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (महः) महतः (स्कम्भस्य) स्कभि प्रतिबन्धे-अच् । स्तम्भस्य । सर्वधारकस्य परमेश्वरस्य (मिमानः) मानं कुर्वाणः (अङ्गम्) स्वरूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(कस्मिन् अङ्गे) (तिष्ठति) वर्तते (भूमिः) पृथिवी (अस्य) ब्रह्मणः (अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । मध्यवर्ती लोकः (आहिता) स्थापिता

अङ्ग में (आहिता) ठहराया हुआ (द्यौः) सूर्य (तिष्ठति) ठहरता है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (दिवः) सूर्य से (उत्तरम्) ऊंचा स्थान (तिष्ठति) ठहरता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

क्वं १ प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्वं १ प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा । यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥

क्वं । प्र-ईप्सन् । दीप्यते । ऊर्ध्वः । अग्निः । क्वं । प्र-ईप्सन् । पवते । मातरिश्वा ॥ यत्र । प्र-ईप्सन्तीः । अभि-यन्ति । आ-वृतः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ४

भाषार्थ—(क) कहां को (प्रेप्सन्) पाने की इच्छा करता हुआ, (ऊर्ध्वः) ऊंचा होता हुआ (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) चमकता है, (क) कहां को (प्रेप्सन्) पाने की इच्छा करता हुआ (मातरिश्वा) आकाश में गति वाले [वायु] (पवते) झोके लेता है । (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) पानें की इच्छा करती हुयी (आवृतः) अनेक घूमें (अभियन्ति) सब ओर से मिलती हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि, वायु और अन्य प्राकृतिक पदार्थ कार्य और कारण रूप से परमात्मा में ही आश्रित होकर रहते हैं ॥ ४ ॥

(द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (उत्तरम्) उच्चतरं स्थानम् (दिवः) सूर्यात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(क) कुत्र (प्रेप्सन्) प्र + आप्लृ व्याप्तौ-सन् , शतृ । प्राप्तुमिच्छन् (ऊर्ध्वः) उच्चगतिः सन् (अग्निः) (पवते) म० २ । गच्छति (मातरिश्वा) म० २ । आकाशे गन्ता वायुः (यत्र) यस्मिन् (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुं कामयमानाः (अभियन्ति) सर्वतः प्राप्नुवन्ति (आवृतः) समान्ताद् वर्तनशीला मार्गाः (स्कम्भम्) म० २ । स्तम्भम् । सर्वधारकं परमेश्वरम् (तम्) निर्दिष्टम् (ब्रूहि) कथय (कतमः) सर्वेषां मध्ये कः (स्वित्) अवधारणे (एव) निश्चयेन (सः) । अन्यत् पूर्ववत् ॥

क्वा॑र्धमा॒साः क्व॑ यन्ति॒ मासाः॑ संवत्स॒रेण॑ स॒ह सं॑वि॒दा॒नाः ।
यत्र॒ यन्त्यृ॒तवो॒ यत्रा॑र्त॒वाः स्क॒म्भं तं० ॥ ५ ॥

क्व॑ । अ॒र्ध॒-मा॒साः । क्व॑ । य॒न्ति॒ । मासाः॑ । स॒म्-व॒त्स॒रेण॑ । स॒ह । स॒म्-वि॒दा॒नाः ॥ यत्र॑ । यन्ति॑ । ऋ॒तवः॑ । यत्र॑ । आ॒र्त॒-वाः । स्क॒म्भम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(क) कहां (अर्धमासाः) आधे महीने [पखवाड़े] और (क) कहां (मासाः) महीने (संवत्सरेण सह) वर्ष के साथ (संविदानाः) मिलते हुये (यन्ति) जाते हैं ? (यत्र) जहां (ऋतवः) ऋतुयें और (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयव (यन्ति) जाते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही आज्ञा में यह काल अपने अवयवों सहित वर्तमान है ॥ ५ ॥

क्व॑ १ प्रेप्स॑न्ती युव॒ती विरू॑पे अहोरा॒त्रे द्र॑वतः संवि॒दा॒ने ।
यत्र॒ प्रेप्स॑न्तीरभि॒यन्त्याप॑ः स्क॒म्भं तं० ॥ ६ ॥

क्व॑ । प्रेप्स॑न्ती॒ इति॑ प्र॒-ईप्स॑न्ती । यु॒व॒ती इति॑ । विरू॑पे॒ इति॒ वि-रू॑पे । अ॒हो॒रा॒त्रे इति॑ । द्र॒व॒तः । सं॒वि॒दा॒ने इति॒ स॒म्-वि॒दा॒ने ॥ यत्र॑ । प्र॒-ईप्स॑न्तीः । अ॒भि॒-यन्ति॑ । आप॑ः । स्क॒म्भम् । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(क) कहां (प्रेप्सन्ती) पाने की इच्छा करती हुयी (युवती) दो मिलने वाली और अलग होजाने वाली शक्तियां, (विरूपे) विरुद्ध रूपवाले,

५—(क) कस्मिन् देवे (अर्धमासाः) पक्षाः (यन्ति) गच्छन्ति (मासाः) (संवत्सरेण) वर्षेण (सह) (संविदानाः) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानाः (ऋतवः) वसन्तादयः कालाः (आर्तवाः) ऋतूनामवयवाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(क) प्रेप्सन्ती) प्राप्तुमिच्छन्त्यौ (युवती) यु मिश्रणामिश्रणयोः- कनिन्, ति, ङीप् । मिश्रणामिश्रणशीले शक्ती यौवनवत्यौ स्त्रियौ यथा (विरूपे)

(संविदाने) आपस में मिले हुये (अहोरात्रे) दिन और रात (द्रवतः) दौड़ते हैं ? (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) मिलनेकी इच्छा करती हुई (आपः) सब प्रजायें (अभियन्ति) चारो ओर से आती हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह दिन रात और सब प्राणी परमेश्वर के ही नियम बद्ध रहते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

यस्मिन् । स्तब्ध्वा । प्रजा-पतिः । लोकान् । सर्वान् । अधारयत् ॥
स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस में (प्रजापतिः) प्रजापति [सूर्य वा आकाश] ने (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (स्तब्ध्वा) रोककर (अधारयत्) धारण किया है । (सः) वह (कमतः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस परमेश्वर की अनन्त शक्ति से सूर्य वा आकाश सब लोकों को अपने आकर्षण में रखता है ॥ ७ ॥

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ८
यत् । परमम् । अवमम् । यत् । च । मध्यमम् । प्रजा-पतिः ।

विरुद्धस्वरूपे (अहोरात्रे) (द्रवतः) धावतः (संविदाने) संगच्छमाने (यत्र) (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुमिच्छन्त्यः (अभियन्ति) सर्वतो गच्छन्ति (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ सर्वे प्राणिनः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यस्मिन्) (स्तब्ध्वा) अवरुध्य (प्रजापतिः) प्रजापालकः सूर्य आकाशो वा (लोकान्) ब्रह्माण्डान् (सर्वान्) (अधारयत्) धारितवान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सुसृजे । विश्व-रूपम् ॥ कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । तत्र । यत् । न । प्र-अविशत् । कियत् । तत् । बभूव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (परमम्) अति ऊंचा, (अवमम्) अति नीचा (च) और (यत्) जो कुछ (मध्यमम्) अति मध्यम (विश्वरूपम्) नाना रूप [जगत्] (प्रजापतिः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (ससृजे) रचा था। (कियता) कहां तक (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (तत्र) उस [जगत्] में (प्र विवेश) प्रवेश किया था, (यत्) जितने में उस [परमेश्वर] ने (न) नहीं (प्राविशत्) प्रवेश किया है, (तत्) वह (कियत्) कितना (बभूव) था ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने उत्तम, मध्यम और नीच स्वभाव वाला इतना बड़ा ब्रह्माण्ड प्राणियों के कर्मानुसार रचा है, और वह जगदीश्वर इतना बड़ा है कि सारे ब्रह्माण्ड के अङ्ग अङ्ग में निरन्तर रम रहा है ॥ ८ ॥

यह मन्त्र ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० १३५ में व्याख्यात है ॥

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य । एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । भूतम् । कियत् । भविष्यत् अनु-आशये । अस्य ॥ एकम् । यत् । अङ्गम् । अकृणोत् । सहस्र-धा । कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । तत्र ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(कियता) कहां तक (भूतम्) भूत काल में (स्कम्भः)

८—(यत्) यत् किञ्चित् (परमम्) उच्चतमम् (अवमम्) नीचतमम् (यत् च) (मध्यमम्) मध्यतमम् (प्रजापतिः) परमेश्वरः (ससृजे) उत्पादयामास (विश्वरूपम) नानाविधं जगत् (कियता) किं परिमाणेन (स्कम्भः) सर्वधारकः परमात्मा (प्रविवेश) प्रविष्टवान् (तत्र) जगति (यत्) यत्परिमाणं जगत् (न) निषेधे) (प्राविशत्) प्रविष्टवान् परमेश्वरः (कियत्) किं परिमाणम् (तत्) जगत् (बभूव) वर्तते ॥

९—(भूतम्) अतीतकालम् (भविष्यत्) अनागतकालम् (अन्वाशये)

स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (प्र विवेश) प्रवेश किया था; (कियत्) कितना (भविष्यत्) भविष्यत् काल (अस्य) इस [परमेश्वर] के (अन्वाशये) निरन्तर आशय [आधार] में है। (यत) जो कुछ (एकम्) एक (अङ्गम्)अङ्ग [अर्थात् थोड़ा सा जगत्] (सहस्रधा) सहस्रों प्रकार से (अकृणोत्) उस [परमेश्वर] ने रचा है, (कियता) कहां तक (तत्र) उसमें (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (प्र विवेश) प्रवेश किया था ॥ ९

भावार्थ—परमेश्वर का न तो कोई आदि और न कोई अन्त जानता है, और जितनी कुछ ईश्वर की रचना है, उस सब में वह परमात्मा परिपूर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असंच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥ (२२)

यत्र। लोकान्। च। कोशान्। च। आपः। ब्रह्म। जनाः। विदुः ॥ असत्। च। यत्र। सत्। च। अन्तः। स्कम्भम्। तम्। ब्रूहि। कतमः। स्वित्। एव। सः ॥ १० ॥ (२२)

भाषार्थ—(यत्र ब्रह्म) जिस ब्रह्म में (आपः) विद्वान् (जनाः) जन (लोकान्) सब लोकों को (च च) और (कोशान्) सब कोशों [निधियों वा आधारों] को (विदुः) जानते हैं। (यत्र अन्तः) जिस के भीतर (असत्) असत् [अनित्य कार्यरूप जगत्] (च च) और (सत्) सत् [नित्य अर्थात्

अनु + आङ् + शीङ् शयने-अच्। निरन्तर आशये, आधारे (अस्य) परमेश्वरस्य (एकम्) अत्यल्पमित्यर्थः (यत्) (अङ्गम्) जगतो विभागम् (अकृणोत्) रचितवान् (सहस्रधा) बहुप्रकारेण (तत्र) तस्मिन् जगतो भागे। अन्यत् पूर्ववत्-म० ८ ॥

१०—(यत्र) यस्मिन् (लोकान्) भुवनानि (कोशान्) निधीन्। आधारान् (च च) (आपः) आपः सकलविद्याधर्मव्यापिनः-दयानन्दभाष्ये, यजु० १०। ४। विद्वांसः (ब्रह्म) ब्रह्मणि (जनाः) मनुष्याः (विदुः) जानन्ति(असत्) अनित्यं कार्यं जगत् (च) (यत्र) परमात्मनि (सत्) नित्यं जगतः कारणम्

जगत् का कारण] है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करनेवाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस के सामर्थ्य में सब लोक और उन के धारण और आकर्षण और सब कार्य और कारण रूप जगत् है, वही परमात्मा है ॥ १० ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३०८ में व्याख्यात है ॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् । ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ ११ ॥

यत्र । तपः । परा-क्रम्य । व्रतम् । धारयति । उत्-तरम् ॥ ऋतम् । च । यत्र । श्रद्धा । च । आपः । ब्रह्म । सम्-आहिताः । स्कम्भम् ॥ ० ११ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [ब्रह्म] में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य] (पराक्रम्य) पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत [वरणीय कर्म) को (धारयति) धारण करता है । (यत्र ब्रह्म) जिस ब्रह्म में (ऋतम्) सत्य शास्त्र, (च) और (श्रद्धा) श्रद्धा [सत्य धारण विश्वास] (च) और (आपः) सब प्रजायें (समाहिताः) मिलकर स्थापित हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उस को (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से नियम धारण, वेद, शास्त्र आदि सब पदार्थ स्थित हैं ॥ ११ ॥

(च) (अन्तः) मध्ये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(यत्र) यस्मिन् ब्रह्मणि (तपः) ऐश्वर्यं सामर्थ्यम् (पराक्रम्य) पराक्रमं कृत्वा (व्रतम्) व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः—निरु० २ । १३ । वरणीयं कर्म (धारयति) दधाति (उत्तरम्) उत्कृष्टम् (ऋतम्) सत्यशास्त्रम् (च) (यत्र) (श्रद्धा) सत्यधारणविश्वासः (च) (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ (ब्रह्म) ब्रह्मणि (समाहिताः) सम्यक् स्थापिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता। यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं० ॥ १२ ॥

यस्मिन्। भूमिः। अन्तरिक्षम्। द्यौः। यस्मिन्। अधि। आ-हिता ॥ यत्र। अग्निः। चन्द्रमाः। सूर्यः। वातः। तिष्ठन्ति। आर्पिताः। स्कम्भम्। ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः) भूमि, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (यस्मिन्) जिस में (द्यौः) आकाश (अधि आहिता) दृढ स्थापित है। (यत्र) जिसमें (अग्निः) अग्नि, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (सूर्यः) सूर्य और (वातः) वायु (आर्पिताः) भली भाँति जमे हुये (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उस को (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा (ब्रूहि) तू कह ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में ही सब भूमि आदि लोक और पदार्थ स्थित हैं।१२॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं०॥१३॥

यस्य। त्रयः-त्रिंशत्। देवाः। अङ्गे। सर्वे। सम्-आहिताः ॥ स्कम्भम्। तम्। ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (अङ्गे) अङ्ग में (सर्वे) सब (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवता [दिव्य पदार्थ] (समाहिताः) मिलकर स्थापित हैं। (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से ही वसु आदि पदार्थ संसार का

१२—(यस्मिन्) ब्रह्मणि (द्यौः) आकाशः (अधि) दृढम्) (आहिता) स्थापिता (तिष्ठन्ति) वर्तन्ते (आर्पिताः) आ+अर्पिताः । समन्तात् स्थापिताः। अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

१३—(यस्य) परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) वस्वादयः—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठानि ६६—६८ (देवाः) वस्वादयो दिव्यपदार्थाः (अङ्गे) (सर्वे) समाहिताः) सम्यक् स्थापिताः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

धारण करते हैं। तेतीस देवता यह हैं,-८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र;-११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,-१२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली,—प्रजापति अर्थात् यज्ञ-महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकापृष्ठ ६६-६८ ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही। एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं० ॥ १४ ॥

यत्र। ऋषयः। प्रथम-जाः। ऋचः। साम। यजुः। मही ॥ एक-ऋषिः। यस्मिन्। आर्पितः। स्कम्भम्। ० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (ऋषयः) ऋषि [मन्त्रों के अर्थ जानने वाले महात्मा], (ऋचः) स्तुति विद्यायें [ऋग्वेद], (साम) मोक्ष विद्या [सामवेद], (यजुः) सत्सङ्ग विद्या [यजुर्वेद] और (मही) पूजनीय वाणी [ब्रह्मविद्या अर्थात् अथर्ववेद] वर्तमान है। (यस्मिन्) जिसमें (एकर्षिः) एकदर्शी [समदर्शी स्वभाव] (आर्पितः) भली भांति जमा हुआ है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की सत्ता में सृष्टि की आदि में उत्पन्न वेदार्थ द्रष्टा ऋषि और समस्त वेद विद्यायें और समदर्शी स्वभाव स्थित हैं। सृष्टि की आदि में जिनको वेदों का प्रकाश हुआ था वे चार ऋषि ये हैं अग्नि, वायु,

१४—(यत्र) यस्मिन् परमेश्वरे (ऋषयः) अ० २। ६। १। साक्षात् कृतधर्माणः (प्रथमजाः) सृष्ट्यादौ सृष्टाः (ऋचः) स्तुतिविद्याः। ऋग्वेदः (साम) अ० ७। ५४। १। षो अन्तकर्मणि-मनिन्। दुःखनाशिका मोक्षविद्या। सामवेदः (यजुः) अ० ७। ५४। २। सङ्गतिकरणविद्या। यजुर्वेदः (मही) वाणीनिघ० १। ११। पूजनीया ब्रह्मविद्या। अथर्ववेदः (एकर्षिः) ऋषिर्दर्शनात्-निरु०

आदित्य और अङ्गिरा महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १६ ॥१४॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते । समुद्रो यस्य नाड्य१ः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ १५ ॥

यत्रं । अमृतम् । च । मृत्युः । च । पुरुषे । अधि । समाहिते इति सम्-आहिते ॥ समुद्रः । यस्य । नाड्यः । पुरुषे । अधि । सम्-आहिताः । स्कम्भम् । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (पुरुषे अधि) मनुष्य के निमित्त (मृत्युः) मृत्यु [आलस्य आदि] (च च) और (अमृतम्) अमरपन आदि [पुरुषार्थ] (समाहिते) दोनों यथावत् स्थापित हैं । (समुद्रः) समुद्र [अन्तरिक्ष, अवकाश] (यस्य) जिसकी (समाहिताः) यथावत् स्थापित (नाड्यः) नाड़ियों [के समान] (पुरुषे अधि) मनुष्य के लिये है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौनसा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के लिये मृत्यु के कारण आलस्य आदि का निषेध और अमरपन अर्थात् पुरुषार्थ आदि की विधि, और कार्य करने को अन्तरिक्ष वा अवकाश स्थापित किया है ॥ १५ ॥

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः । यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥

यस्यं । चतस्रः । प्र-दिशः । नाड्यः । तिष्ठन्ति । प्रथमाः ॥ यज्ञः ।

---

२ । १ ॥ एकदर्शी । समदर्शी स्वभावः (यस्मिन्) परमात्मनि (आर्पितः) म० २१ । समन्तात् स्थापितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यत्र) यस्मिन् परमात्मनि (अमृतम्) अमरत्वं पौरुषादिकम् (च च) (मृत्युः) मरणकारणमालस्यादिकम् (पुरुषे) मनुष्यनिमित्ते (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (समाहिते) सम्यक् स्थापिते (समुद्रः) अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ (यस्य) (नाड्यः) नाड्यो यथा (पुरुषे) (अधि) अन्यत् पूर्ववत् ॥

यत्र । परा-क्रान्तः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशायें (यस्य) जिस [परमेश्वर] की (प्रथमाः) मुख्य (नाड्यः) नाड़ियां [समान] (तिष्ठन्ति) हैं। (यत्र) जिस में (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (पराक्रान्तः) पराक्रमयुक्त है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करनेवाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥१६॥

भावार्थ—परमात्मा सब दिशाओं में व्यापकर श्रेष्ठ व्यवहार करनेवाले पुरुष को पराक्रमी बनाता है ॥ १६ ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् । ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

ये । पुरुषे । ब्रह्म । विदुः । ते । विदुः । परमे-स्थिनम् ॥
यः । वेद । परमे-स्थिनम् । यः । च । वेद । प्रजा-पतिम् ॥
ज्येष्ठम् । ये । ब्राह्मणम् । विदुः । ते । स्कम्भम् । अनु-संविदुः ॥१७

भाषार्थ—(ये) जो लोग (पुरुषे) मनुष्य में (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (परमेष्ठिनम्) परमेष्ठी [सब से ऊपर स्थित परमात्मा] को (विदुः) जानते हैं। (यः) जो [उस को] (परमेष्ठिनम्) परमेष्ठी (वेद) जानता है, (च) और (यः) जो [उस को] (प्रजापतिम्) प्रजापति [प्राणियों का रक्षक] (वेद) जानता है। और (ये) जो लोग

१६—(यस्य) (चतस्रः) प्रदिशः) पूर्वादयः (नाड्यः) (तिष्ठन्ति) सन्ति (प्रथमाः) मुख्याः (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (यत्र) परमात्मनि (पराक्रान्तः) पराक्रमयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१७—(ये) ब्रह्मज्ञानिनः (पुरुषे) मनुष्ये (ब्रह्म) परमात्मानम् (विदुः) जानन्ति (ते) विद्वांसः (विदुः) (परमेष्ठिनम्) अ० १ । ७ । २ । सर्वोपरि-

[उसको] (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा वा सबसे श्रेष्ठ] (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेदज्ञाता] (विदुः) जानते हैं, (ते) वे सब (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] को (अनुसंविदुः) पूर्ण रूप से पहिचानते हैं॥ १७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा को अपने भीतर और बाहिर उसके अचल उच्च गुणों से साक्षात् करते हैं, वे अपने आत्मा को उच्च बनाते हैं ॥१७॥

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

यस्य । शिरः । वैश्वानरः । चक्षुः । अङ्गिरसः । अभवन् ॥ अङ्गानि । यस्य । यातवः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [परमेश्वर] के (शिरः) शिर [के तुल्य] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी गुण [है] , (चक्षुः) नेत्र [के तुल्य] (अङ्गिरसः) अनेक ज्ञान (अभवन्) हुये हैं । (यस्य) जिसके (अङ्गानि) अङ्गों [के समान] (यातवः) प्रयत्न हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को सर्व हितकारी, सर्वज्ञ और परम पुरुषार्थयुक्त जानकर उन्नति करे ॥ १८ ॥

विराजमानम् (यः) पुरुषः (वेद) जानाति (प्रजापतिम्) सर्वप्राणिरक्षकम् (ज्येष्ठम्) वृद्ध वा प्रशस्य—इष्ठन् । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६२ । ज्यादेशः । वृद्धतमम् । प्रशस्यतमम् (ये) (ब्राह्मणम्) अ० २ । ६ । ३ । वेदज्ञातारम् (अनुसंविदुः) पूर्णरीत्या जानन्ति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(यस्य) (शिरः) मस्तकं यथा (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितो गुणः (चक्षुः) (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । अगि गतौ—असि, इरुडागमः । बोधाः । ज्ञानानि (अभवन्) (अङ्गानि) (यातवः) कृवापाजि० । उ० १ । १ । यती प्रयत्ने—उण् । प्रयत्नाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत। विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥

यस्य । ब्रह्म । मुखम् । आहुः। जिह्वाम् । मधु-कशाम् । उत ॥ वि-राजम् । ऊधः । यस्य । आहुः । स्कम्भम् । ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्माण्ड को (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (मुखम्) मुख [समान] (उत) और (मधुकशाम्) मधुविद्या [वेद वाणी] को (जिह्वाम्) जिह्वा [समान] (आहुः) वे [ऋषि लोग] कहते हैं । (विराजम्) विराट् [विविध शक्ति वाली प्रकृति] को (यस्य) जिसका (ऊधः) सेचन साधन [वा दूध का आधार] (आहुः) बताते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १९ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग जानते हैं कि यह सब ब्रह्माण्ड, वेदविद्या और जगत् की सामग्री परमात्मा के सामर्थ्य में वर्तमान हैं ॥ १९ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥(२३)

यस्मात् । ऋचः । अप-अतक्षन् । यजुः । यस्मात् । अप-अकषन् ॥ सामानि । यस्य । लोमानि । अथर्व-अङ्गिरसः । मुखम् । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥२०॥(२३)

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस से [प्राप्त करके] (ऋचः) ऋग् मन्त्रों [स्तुति विद्याओं] को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया

१९—(यस्य) परमात्मनः (ब्रह्म) ब्रह्माण्डम् (मुखम्) मुखतुल्यम् (आहुः) ब्रुवन्ति (जिह्वाम्) (मधुकशाम्) अ० ९ । १ । १ । मधुविद्याम् । वेदवाणीम् (उत) अपि च (विराजम्) अ० ९ । ८ । ११ विविधेश्वरीं प्रकृतिम् (ऊधः) उन्दनसाधनम् । दुग्धाधारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(यस्मात्) परमेश्वरात् प्राप्य (ऋचः) ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । ऋग्वेदमन्त्राः [अपातक्षन्] तक्षू तनूकरणे—लङ् । सूक्ष्मीकृत-

[भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिससे [प्राप्त करके] (यजुः) यजुः ज्ञान [सत्कर्मों के बोध] को (अप-अकषन्) उन्होंने कस अर्थात् कसौटी पर रक्खा। (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम [समान व्यापक] हैं और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व मन्त्र [निश्चल ब्रह्म के ज्ञान] (मुखम्) मुख [तुल्य हैं], (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ २० ॥

भावार्थ—ऋषियों ने निश्चय किया है कि ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत और समस्त संसार के कल्याण कारक हैं ॥ २० ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६। में व्याख्यात है ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

असत्-शाखाम् । प्र-तिष्ठन्तीम् । परमम्-इव । जनाः । विदुः ॥
उतो इति । सत् । मन्यन्ते । अवरे । ये । ते । शाखाम् । उप-आसते ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(जनाः) पामर जन (प्रतिष्ठन्तीम्) फैलती हुई (असच्छा-

वन्तः । यथावद् विचारितवन्तः (यजुः) अ० ७ । ५४ । २ । यजुर्वेदम् । सत्कर्मज्ञानम् (यस्मात्) (अपाकषन्) कष हिंसायाम्—लङ् । कषपाषाणेन सुवर्णघर्षणप्रस्तरेण यथा साक्षात्कृतवन्तः (सामानि) अ० ७ । ५४ । १ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । सामज्ञानानि । मोक्षज्ञानानि (यस्य) (लोमानि) रोमतुल्यानि (अथर्वाङ्गिरसः) स्नामदिपद्यर्ति० । उ० ।४। ११३ । अ + थर्व चरणे = गतौ—वनिप्, वलोपो विकल्पेन । अथर्वाणोऽयनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११ । १८ । अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । अगि गतौ-असि, इरुडागमश्च । अथर्वणो निश्चलस्वभावस्य परमेश्वरस्य अङ्गिरसो बोधाः । अथर्ववेदमन्त्राः (मुखम्) । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(असच्छाखाम्) अनित्यस्य कार्यरूपजगतो व्याप्तिम् (प्रतिष्ठ-

खाम्) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] की व्याप्ति को (परमम् इव) परम उत्कृष्ट पदार्थ के समान (विदुः) जानते हैं। (उतो) और (ये) जो (अवरे) पीछे होने वाले, [कार्य रूप जगत्] में (सत) सत् [नित्य कारण] को (मन्यन्ते) मानते हैं, वे [लोग] (ते) तेरी (शाखाम्) व्याप्ति को (उपासते) भजते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य कार्य रूप संसार को परम अवधि मानते हैं, परन्तु ज्ञानी मनुष्य कार्य रूप जगत् में कारण को खोजकर आदि कारण परमात्मा की व्याप्ति को साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

यत्र । आदित्याः । च । रुद्राः । च । वसवः । च । सम्-आहिताः । भूतम् । च । यत्र । भव्यम् । च । सर्वे । लोकाः । प्रति-स्थिताः। स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः॥२२

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (आदित्याः) प्रकाशमान [सूर्य आदि लोक] (च च) और (रुद्राः) गति देने वाले पवन (च) और (वसवः) निवास करने वाले [प्राणी] (समाहिताः) परस्पर ठहराये गये हैं। (यत्र) जिसमें (भूतम) भूतकाल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल

न्तीम्। प्रकर्षेण विस्तारेण वर्तमानाम् (परमम्) उत्कृष्टमवधिम् (इव) यथा (जनाः) पामरलोकाः (विदुः) जानन्ति (उतो) अपि च (सत्) नित्यं कारणम् (मन्यन्ते) जानन्ति (अवरे) पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा। पा० ७। १। १६ । स्मिन् इत्यस्याभावः। पश्चाद् वर्तिनि काले कार्यरूपजगति (ये) विद्वांसः (ते) तव, परमेश्वरस्य (शाखाम्) शाखृ व्याप्तौ—अच्, टाप्। व्याप्तिम् (उपासते) भजन्ते ॥

२२—(यत्र) यस्मिन् परमेश्वरे (आदित्याः) अ० १। ६। १। आदीप्यमानाः सूर्यादिलोकाः (च च) (रुद्राः) रुङ् गतिरेषणयोः—क्विप्, तुक्+रा दाने—क। गतिदातारः पवनाः (वसवः) निवासिनः प्राणिनः (समाहिताः)

(च) और (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (प्रतिष्ठिताः) ठहरे हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ २२ ॥

भावार्थ—ये सब सूर्य, वायु, प्राणी आदि जगत् परमात्मा की महिमा से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं ॥ २२ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

यस्य । त्रयः-त्रिंशत् । देवाः । नि-धिम् । रक्षन्ति । सर्वदा ॥ नि-धिम् । तम् । अद्य । कः । वेद । यम् । देवाः । अभि-रक्षथ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [परमेश्वर] के (निधिम्) कोष [संसार] को (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देव [दिव्य पदार्थ] (सर्वदा) सर्वदा (रक्षन्ति) रखाते हैं । (तम्) उस (निधिम्) कोष को (अद्य) आज (कः) कौन (वेद) जानता है, (यम्) जिस को, (देवाः) हे देवो ! [दिव्यपदार्थो](अभिरक्षथ) तुम सर्वदा रखवाली करते हो ॥ २३ ॥

भावार्थ—आठ वसु, ग्यारह रुद्र बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति [मन्त्र १३ देखो] परमेश्वर के नियम से संसार के व्यवहार सदा सिद्ध करते हैं ॥ २३ ॥

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

यत्र । देवाः । ब्रह्म-विदः । ब्रह्म । ज्येष्ठम् । उप-आसते ॥

सम्यक् स्थापिताः (भूतम्) गतकालः (च च) (यत्र) (भव्यम्) अनागतकालः (लोकाः) भुवनानि (प्रतिष्ठिताः) दृढं स्थिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२३—(यस्य) परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) म० १३ (देवाः) वस्वादयो दिव्यपदार्थाः (निधिम्) कोषम् । संसारम् (रक्षन्ति) पालयन्ति (सर्वदा) (वेद) जानाति । अन्यत् सुगमम् ॥

यः । वै । तान् । विद्यात् । प्रति-अक्षम् । सः । ब्रह्मा । वेदिता । स्यात् ॥ २४ ॥

भाषार्थ--(यत्र) जहां पर (देवाः) विजयी (ब्रह्मविदः) ब्रह्म ज्ञानी पुरुष(ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्म) ब्रह्म को(उपासते) भजते हैं। [वहां] (यः) जो (वै) ही (तान्) उन [ब्रह्मज्ञानियों] को (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष करके (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा [महापण्डित] (वेदिता) ज्ञाता [जानकार] (स्यात्) होवे ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों से ईश्वर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वेही संसार में तत्त्वदर्शी विद्वान् होते हैं ॥ २४ ॥

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

बृहन्तः । नाम । ते । देवाः । ये । असतः । परि । जज्ञिरे ॥ एकम् । तत् । अङ्गम् । स्कम्भस्य । असत् । आहुः । परः । जनाः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [कारण रूप] (देवाः) दिव्य पदार्थ (नाम) अवश्य (बृहन्तः) बड़े हैं, (ये) जो (असतः) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] से (परि जज्ञिरे) सब ओर प्रकट हुये हैं। (जनाः) लोग (परः) परे [कारण से परे] (तत्) उस (असत्) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] को (स्कम्भस्य)

२४—(यत्र) यस्मिन् देशे (देवाः) विजयिनः (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (ज्येष्ठम्) म० १७ । वृद्धतमम् । उत्कृष्टतमम् (उपासते) पूजयन्ति (यः) (वै) एव (तान्) (ब्रह्मविदः) (विद्यात्) जानीयात् (प्रत्यक्षम्) समक्षम् (सः) जिज्ञासुः (ब्रह्मा) महापण्डितः (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) ॥

२५—(बृहन्तः) महान्तः (नाम) अवश्यम् (ते) प्रसिद्धाः (देवाः) कारणरूपदिव्यपदार्थाः (ये) (असतः) अनित्यात् कार्यरूपजगतः (परि) सर्वतः (जज्ञिरे) प्रादुर्बभूवुः (एकम्) अल्पमित्यर्थः (तत्) (अङ्गम्) (स्कम्भस्य)

स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] का (एकम्) एक (अङ्गम्) अङ्ग (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं कि कार्य रूप जगत् से कारण रूप जगत् अति अधिक है और परमेश्वर उससे भी अधिक है ॥ २५ ॥

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

यत्र। स्कम्भः। प्र-जनयन्। पुराणम्। वि-अवर्तयत् ॥ एकम्। तत्। अङ्गम्। स्कम्भस्य। पुराणम्। अनु-संविदुः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां [जिस काल में] [कार्यरूप जगत् को] (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुये (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] ने (पुराणम्) पुराने [कारण] को (व्यवर्तयत्) चक्राकार घुमाया, (तत्) उस (पुराणम्) पुराने [कारण] को (स्कम्भस्य) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] का (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग वे [तत्त्ववेत्ता] (अनुसंविदुः) पूर्ण रीति से जानते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—कारण रूप पदार्थ कार्यरूप जगत् से पुरातन है। उस कारण-रूप पदार्थ को विविध प्रकार चेष्टा देकर उसके जिस अङ्ग से सब जगत् रचा गया है, वह परमात्मा के सामर्थ्य का छोटा अंश है ॥ २६ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

परमेश्वरस्य (असत्) अनित्यं कार्यं जगत् (आहुः) कथयन्ति (परः) परस्तात् (जनाः) विद्वांसः ॥

२६—(यत्र) यस्मिन् काले (स्कम्भः) सर्वधारकः परमेश्वरः (प्रजनयन्) संसारमुत्पादयन् (पुराणम्) सायंचिरंप्राह्णेप्रगे० । पा० ४ । ३ । २३ । पुरा-ट्यु । तुडभावः । यद्वा, पुरा+णीञ् प्रापणे-ड, णत्वम् । पुरातनं कारणम् (व्यवर्तयत्) चक्राकारेण वर्तनमकारयत् (अनुसंविदुः) अनुसन्धानेन यथावत् जानन्ति ॥

यस्य॑। त्रयः॑-त्रिंशत्। दे॒वाः। अङ्गे॑। गात्रा॑। वि-भे॒जिरे॑ ॥ तान्। वै। त्रयः॑-त्रिंशत्। दे॒वान्। एके॑। ब्र॒ह्म-विदः॑। वि॒दुः ॥२७॥

भाषार्थ—(यस्य) यजनीय [पूजनीय परमेश्वर] के (अङ्गे) अङ्ग में [वर्तमान] (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवों [दिव्य पदार्थों] ने (गात्रा) अपने गातों को (विभेजिरे) अलग अलग बांटा था। (तान् वै) उन्हीं (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवान्) देवों को (एके) कोई कोई (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति [भावार्थ मन्त्र १३ तथा २३ देखो] परमात्मा में वर्तमान रहकर जगत् के सब प्राणियों का पालन पोषण और धारण विविध प्रकार करते हैं; इस मर्म को विरले तत्त्ववेत्ता जानते हैं ॥ २७ ॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भं प॑र॒मम॑न॒त्यु॒द्यं जना॑ विदुः। स्क॒म्भस्तद॑ग्रे॒ प्रासि॑ञ्चद्धिर॑ण्यं लो॒के अ॑न्त॒रा ॥ २८ ॥

हि॒र॒ण्य-ग॒र्भम्। प॒र॒मम्। अ॒न॒ति-उ॒द्यम्। जनाः॑। वि॒दुः ॥ स्क॒म्भः। तत्। अग्रे॑। प्र। अ॒सि॒ञ्च॒त्। हिर॑ण्यम्। लो॒के। अ॒न्त॒रा ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भम्) तेज के गर्भ [आधार परमेश्वर] को (परमम्) सर्वोत्कृष्ट [प्रणव वा ओ३म्] और (अनत्युद्यम्) सर्वथा अकथनीय [ईश्वर] (विदुः) जानते हैं। (स्कम्भः) उस स्कम्भ

२७—(यस्य) यज पूजने—ड। यजनीयस्य पूजनीयस्य परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) म० १३ (देवाः) दिव्यपदार्थाः (अङ्गे) अवयवे (गात्रा) अवयवान् (विभेजिरे) विभक्तवन्तः (तान्) (वै) एव (त्रयस्त्रिंशत्) (देवान्) (एके) केचित् (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति ॥

२८—(हिरण्यगर्भम्) अ० ४। २। ७। तेजसो गर्भमाधारम् (परमम्) सर्वोत्कृष्टं प्रणवम् (अनत्युद्यम्) वद व्यक्तायां वाचि—क्यप्। सर्वतोऽकथनीयं परमात्मानम् (जनाः) विद्वांसः (स्कम्भः) स्तम्भः। सर्वधारकः परमेश्वरः

[धारण करने वाले परमात्मा] ने (अग्रे) पहिले ही पहिले (तत्) उस (हिरण्यम्) तेज को (लोके अन्तरा) संसार के भीतर (प्र असिञ्चत्) सींच दिया है ॥ २८ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के गुण और सामर्थ्य मनुष्य की कथन शक्ति से बाहिर हैं। सृष्टि के प्रादुर्भाव में केवल परमेश्वर का ही तेज अर्थात् सामर्थ्य दीख पड़ता है ॥ २८ ॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

स्कम्भे। लोकाः। स्कम्भे। तपः। स्कम्भे। अधि। ऋतम्। आ-हितम् ॥ स्कम्भ। त्वा। वेद। प्रति-अक्षम्। इन्द्रे। सर्वम्। सम्-आहितम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भे) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] में (लोकाः) सब लोक, (स्कम्भे) स्कम्भ में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य], (स्कम्भे अधि) स्कम्भ में ही (ऋतम्) सत्यशास्त्र (आहितम्) यथावत् स्थापित है। (स्कम्भ) हे स्कम्भ ! [धारण करने वाले परमात्मन् !] (त्वा) तुझ को (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (वेद) मैं जानता हूं, (इन्द्रे) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् तुझ] में (सर्वम्) सब [जगत्] (समाहितम्) परस्पर धरा हुआ है ॥ २९ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के नाम स्कम्भ और इन्द्र हैं, उसके सामर्थ्य में सब लोक आदि ठहरे हैं ॥ २९ ॥

(तत्) पूर्वोक्तम् (अग्रे) सृष्ट्यादौ (प्र) प्रकर्षेण (असिञ्चत्) सिक्तवान् (हिरण्यम्) प्रकाशम् (लोके) (अन्तरा) मध्ये ॥

२९—(स्कम्भे) सर्वधारके परमेश्वरे (लोकाः) भुवनानि (तपः) ऐश्वर्यम्। सामर्थ्यम् (अधि) आधिक्ये (ऋतम्) सत्यं वेदशास्त्रम् (आहितम्) समन्तात् स्थापितम् (स्कम्भ) हे सर्वधारक (त्वा) त्वाम् (वेद) जानामि (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति त्वयि (सर्वम्) समस्तं जगत् (समाहितम्) परस्परं धृतम् ॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥ (२४)

इन्द्रे । लोकाः । इन्द्रे । तपः । इन्द्रे । अधि । ऋतम् । आ-हितम् ॥ इन्द्रम् । त्वा । वेद । प्रति-अक्षम् । स्कम्भे । सर्वम् प्रति-स्थितम् ॥ ३० ॥ (२४)

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] में (लोकाः) सब लोक, (इन्द्रे) इन्द्र में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य] (इन्द्रे अधि) इन्द्र में ही (ऋतम्) सत्य शास्त्र (आहितम्) सब प्रकार ठहरा है । (त्वा) तुझ को (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान्] (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (वेद) जानता हूं, (स्कम्भे) स्कम्भ [धारण करने वाले, तुझ] में (सर्वम्) सब [जगत्] (प्रतिष्ठितम्) परस्पर ठहरा है ॥ ३० ॥

भावार्थ—इन्द्र अर्थात् परमेश्वर में सब सूर्य आदि लोक और सब पदार्थ वर्तमान हैं, उसी को मनुष्य स्कम्भ कहते हैं ॥ ३० ॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ३१

नाम । नाम्ना । जोहवीति । पुरा । सूर्यात् । पुरा । उषसः ॥ यत् । अजः । प्रथमम् । सम्-बभूव । सः । ह । तत् । स्व-राज्यम् । इयाय । यस्मात् । न । अन्यत् । परम् । अस्ति । भूतम् ॥ ३१॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (सूर्यात्) सूर्य से (पुरा) पहिले और (उषसः) उषा [प्रभात] से (पुरा) पहिले [वर्तमान] (नाम) एक नाम

३०—(इन्द्रे) परमैश्वर्यवति जगदीश्वरे (स्कम्भे) सर्वधारके (प्रतिष्ठितम्) परस्परं स्थितम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३१—(नाम) एकं नाम परमेश्वरम् (नाम्ना) अन्येन बहुनाम्ना (जोहवीति) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयति (पुरा) पूर्वम् (सूर्यात्) (पुरा)

[परमेश्वर] को (नाम्ना) दूसरे नाम [इन्द्र, स्कम्भ, अज आदि] से (ओहवीति) पुकारता रहता है। (यत्) क्योंकि (अजः) अजन्मा [परमेश्वर] (प्रथमम्) पहिले ही पहिले (संबभूव) शक्तिमान् हुआ, (सः) उस ने (ह) ही (तत्) वह (स्वराज्यम्) स्वराज्य [स्वतन्त्र राज्य] (इयाय) पाया, (यस्मात्) जिस [स्वराज्य] से (परम्) बढ़कर (अन्यत्) दूसरा (भूतम्) द्रव्य (न अस्ति) नहीं है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कार्य रूप काल और उस के अवयवों के पहिले सृष्टि के आदि में प्रलय में भी वर्तमान था। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार उसके अनन्त नाम हैं। वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता से अनन्यजित स्वराज्य करता है। उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य। भूमिः। प्र-मा। अन्तरिक्षम्। उत। उदरम् ॥ दिवम्। यः। चक्रे। मूर्धानम्। तस्मै। ज्येष्ठाय। ब्रह्मणे। नमः ॥३२॥

भाषार्थ—(भूमिः) भूमि (यस्य) जिस [परमेश्वर] के (प्रमा) पादमूल [के समान] (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [पृथिवी और सूर्य के बीच का आकाश] (उदरम्) उदर [समान] है। (दिवम्) सूर्य को (यः) जिसने (मूर्धानम्) मस्तक [समान] (चक्रे) रचा, (तस्मै)

(उषसः) प्रभातकालात् (यत्) यस्मात् कारणात् (अजः) अजन्मा (प्रथमम्) सृष्ट्यादौ (संबभूव) शक्तिमान् बभूव (सः) अजः (ह) एव (तत्) (स्वराज्यम्) स्वतन्त्राधिपत्यम् (इयाय) प्राप (यस्मात्) स्वराज्यात् (न) निषेधे (अन्यत्) (परम्) उत्कृष्टम् (अस्ति) (भूतम्) द्रव्यम् ॥

३२—(यस्य) परमात्मनः (भूमिः) (प्रमा) पादमूलं यथा (अन्तरिक्षम्) (उत) अपि (उदरम्) उदरतुल्यम् (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यम् (यः) (चक्रे) रचितवान् (मूर्धानम्) शिरोवत् (तस्मै) (ज्येष्ठाय) म० १७। वृद्धतमाय। सर्वोत्कृष्टाय (ब्रह्मणे) बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। बृहि वृद्धौ-मनिन्,

उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जैसे जीवात्मा शरीर के सब अङ्गों में व्यापक है, वैसेही परमात्मा जगत् के सब लोकों में निरन्तर व्यापक है, उसको हम सदा मस्तक झुकाते हैं ॥ ३२ ॥

मन्त्र ३२-३४ महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ४ में व्याख्यात हैं ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

यस्य । सूर्यः । चक्षुः । चन्द्रमाः । च । पुनःऽनवः । अग्निम् । यः । चक्रे । आस्यम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥३३

भाषार्थ—(पुनर्णवः) [सृष्टि के आदि में] वारंवार नवीन होने वाला (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (यस्य) जिसके (चक्षुः) नेत्र [समान] हैं। (यः) जिसने (अग्निम्) अग्नि को (आस्यम्) मुख [समान] (चक्रे) रचा है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को सृष्टि के आदि में रचकर सब में व्यापक है ॥ ३३ ॥

ऋग्वेद—म० १० । सू० १९० । मन्त्र ३ में वर्णन है-(सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्) सूर्य और चन्द्रमा को धाता ने पहिले के समान रचा ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥

नस्य अकारः. रत्वम् । वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः-इत्यमरः २३ । ११४ । बृंहति वर्धते इति ब्रह्म ब्रह्मा वा । सर्वमहते परमेश्वराय (नमः) सत्कारः ॥

३३—(यस्य) (सूर्यः) (चक्षुः) नेत्रतुल्यः (चन्द्रमाः) (च) (पुनर्णवः) पुनः पुनः सर्गादौ नवीनः सृष्टः (अग्निम्) (यः) (चक्रे) कृतवान् (आस्यम्) मुखतुल्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्य॑ । वातः॑ । प्रा॒णा॒पा॒नौ । चक्षुः॑ । अङ्गि॑रसः । अभ॑वन् ॥ दिशः॑ । यः । च॒क्रे । प्र-ज्ञानीः॑ । तस्मै॑ । ज्ये॒ष्ठाय॑ । ब्रह्म॑णे । नमः॑ ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(वातः) वायु (यस्य) जिसके (प्राणापानौ) प्राण और अपान [के समान] और (अङ्गिरसः) प्रकाश करने वाली किरणें (चक्षुः) नेत्र [समान] (अभवन्) हुये। (दिशः) दिशाओं को (यः) जिस ने (प्रज्ञानीः) व्यवहार जताने वाली (चक्रे) बनाया, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर वायु, किरणों और दिशाओं में व्यापक है उसको सब नमस्कार करें ॥ ३४ ॥

स्कम्भो दाधार॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे स्कम्भो दाधारो॒र्व॑१ ॒न्तरि॑क्षम् । स्कम्भो दाधार प्र॒दिशः॒ षडु॒र्वीः स्कम्भ इ॒दं विश्वं॒ भुव॑न॒मा विवे॑श ॥ ३५ ॥

स्कम्भः॑ । दा॒धा॒र॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ । स्कम्भः॑ । दा॒धा॒र॒ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ स्कम्भः॑ । दा॒धा॒र॒ । प्र-दिशः॑ । षट् । उ॒र्वीः । स्क॒म्भे । इ॒दम् । विश्व॑म् भुव॑नम् । आ । वि॒वे॒श॒ ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (इमे उभे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (दाधार) धारण किया

३४—(यस्य) (वातः) वायुः (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासतुल्यः (चक्षुः) (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गरा अङ्कना अञ्चनाः—निरु० ३ । १७ । प्रकाशकाः किरणाः (अभवन्) (दिशः) (यः) (चक्रे) (प्रज्ञानीः) प्रज्ञापिनीर्व्यवहारप्रज्ञापयित्रीः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३५—(स्कम्भः) सर्वधारकः परमेश्वरः (दाधार) धृतवान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) (इमे) (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम्

था, (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (दाधार) धारण किया। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (षट्) छह [पूर्वादि चार और एक ऊपर और एक नीचे की] (उर्वीः) विस्तृत (प्रदिशः) दिशाओं को (दाधार) धारण किया, (स्कम्भे) स्कम्भ में (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) सत्ता मात्र [जगत्] (आ) सब ओर से (विवेश) प्रविष्ट हुआ है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—इस सूर्य, पृथिवी, आदि जगत् को परमेश्वर रचकर धारण करता है और यह सब संसार उसके बीच व्याप्त है ॥ ३५ ॥

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

यः । श्रमात् । तपसः । जातः । लोकान् । सर्वान् । सम्-आनशे ॥ सोमम् । यः । चक्रे । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (श्रमात्) [अपने] श्रम [प्रयत्न] से और (तपसः) तप [सामर्थ्य] से (जातः) प्रसिद्ध होकर (सर्वान् लोकान्) सब लोकों में (समानशे) पूरा पूरा व्यापा। (यः) जिस ने (सोमम्) ऐश्वर्य को (केवलम्) केवल [अपना ही] (चक्रे) बनाया, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा परम पुरुषार्थी, परम पराक्रमी और परम ऐश्वर्यवान् होकर सब जगत् का अधिष्ठाता है, उस को हम सब का नमस्कार है ॥३६॥

(प्रदिशः) पूर्वादिचतस्रो दिशा उच्चनीचे च द्वे (षट्) (उर्वीः) विस्तृताः (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) सर्वम् भुवनम्) अस्तित्वम्। जगत् (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(यः) परमेश्वरः (श्रमात्) परिश्रमात्। प्रयत्नात् (तपसः) सामर्थ्यात् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (लोकान्) (सर्वान्) (समानशे) सम्यग् व्याप (सोमम्) ऐश्वर्यम् (यः) (चक्रे) रचितवान् (केवलम्) सेवनीयम्। आत्मीयम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः । किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥

कथम् । वातः । न । इलयति । कथम् । न । रमते । मनः ॥ किम् । आपः । सत्यम् । प्र-ईप्सन्तीः । न । इलयन्ति । कदा । चन ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(कथम्) कैसे (वातः) वायु (न) नहीं (इलयति) सोता है, (कथम्) कैसे (मनः) मन (न) नहीं (रमते) ठहरता है। (किम्) क्यों (आपः) प्रजायें वा जल (सत्यम्) सत्य [ईश्वर नियम] को (प्रेप्सन्तीः) पाने की इच्छा करते हुये (कदा चन) कभी भी (न) नहीं (इलयन्ति) सोते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह वायु, मन, सब प्राणी वा जल आदि क्यों अपना कर्तव्य करते रहते हैं, इसीलिये कि एक परब्रह्म संसार में व्याप कर सब को चला रहा है—अगला मन्त्र देखो ॥ ३७ ॥

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

महत् । यक्षम् । भुवनस्य । मध्ये । तपसि । क्रान्तम् । सलिलस्य । पृष्ठे ॥ तस्मिन् । श्रयन्ते । ये । ऊं इति । के । च । देवाः । वृक्षस्य । स्कन्धः । परितः-इव । शाखाः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(महत्) बड़ा (यक्षम्) यक्ष [पूजनीय ब्रह्म] (भुवनस्य

३७—(कथम्) केन प्रकारेण (वातः) वायुः (न) निषेधे (इलयति) इल स्वप्नक्षेपणयोः । स्वपिति (कथम्) (न) (रमते) उपरमति । तिष्ठति (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकमन्तःकरणम् (किम्) (आपः) प्रजाः । जलानि (सत्यम्) परमात्मनियमम् (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुमिच्छन्त्यः (न) (इलयन्ति) शेरते (कदा चन) कस्मिन्नपि काले ॥

३८—(महत्) बृहत् (यक्षम्) यक्ष पूजायाम्—घञ् । पूजनीयं ब्रह्म

मध्ये) जगत् के बीच (तपसि) [अपने] सामर्थ्य में (क्रान्तम्) पराक्रम युक्त हो कर (सलिलस्य) अन्तरिक्ष की (पृष्ठे) पीठ पर [वर्तमान है] । (तस्मिन्) उस [ब्रह्म] में, (ये उ के च देवाः) जो कोई भी दिव्य लोक हैं, वे (श्रयन्ते) ठहरते हैं (इव) जैसे (वृक्षस्य शाखाः) वृक्ष की शाखायें (स्कन्धः परितः) [धड़ वा पीड़] के चारों ओर ॥ ३८ ॥

भावार्थ—अनन्त आकाश के बीच परमेश्वर की महिमा में पृथ्वी आदि लोक ठहरे हैं, जैसे पेड़ की टहनियां पीड़ में लगी होती हैं– गत मन्त्र देखो ॥३८

यस्मै॒ हस्ता॑भ्यां॒ पादा॑भ्यां वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ चक्षु॑षा । यस्मै॑ दे॒वाः सदा॑ ब॒लिं प्र॒यच्छ॑न्ति॒ विमि॑ते॒ऽमि॑तं स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ ३९ ॥

यस्मै॑ । हस्ता॑भ्याम् । पादा॑भ्याम् । वा॒चा । श्रोत्रे॑ण । चक्षु॑षा ॥ यस्मै॑ । दे॒वाः । सदा॑ । ब॒लिम् । प्र॒-यच्छ॑न्ति । वि-मि॑ते । अमि॑तम् । स्क॒म्भम् । तम् । ब्रू॒हि॒ । क॒त॒मः । स्वि॒त् । ए॒व । सः ३९

भाषार्थ—(यस्मै) जिस [परमेश्वर] को, (यस्मै) जिस [परमेश्वर] को (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से, (पादाभ्याम) दोनों पैरों से, (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) श्रोत्र से और (चक्षुषा) दृष्टि से (देवाः) विद्वान् लोग (विमिते) विविध प्रकार मापे गये [जगत्] में (अमितम्) अपरिमित

(भुवनस्य) ब्रह्माण्डस्य (मध्ये) (तपसि) सामर्थ्ये (क्रान्तम्) पराक्रमयुक्तम् (सलिलस्य) षल गतौ—इलच् । अन्तरिक्षस्य—दयानन्दभाष्ये, ऋक्० ७ । ४९ । १ । (पृष्ठे) उपरिभागे (तस्मिन्) ब्रह्मणि (श्रयन्ते) तिष्ठन्ति (ये) (उ) एव (के) (च) अपि (देवाः) दिव्यलोकाः (वृक्षस्य) (स्कन्धः) सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। इति सप्तम्याः सुः । स्कन्धे । वृक्षकाण्डे (परितः) सर्वतः (इव) यथा (शाखाः) शाखृ व्याप्तौ—अच् । वृक्षावयवभेदाः ॥

३९—(यस्मै यस्मै) परमात्मने नित्यम् (हस्ताभ्याम्) (पादाभ्याम्) (वाचा) वाण्या (श्रोत्रेण) श्रवणेन (चक्षुषा) दृष्ट्या (देवाः) विद्वांसः (सदा) (बलिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । बल प्राणने धान्यावरोधने च-इन् । यद्वा, वर्णेर्बलिश्चाहिरण्ये । उ० ४ । १२४ । वर्ण स्तुतौ, विस्तारे

(बलिम्) सन्मान (सदा) (प्रयच्छन्ति) देते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ॥ ३६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग हाथ पांव आदि अमूल्य उपकारी अङ्गों को पाकर संसार में उपकार करके परमात्मा का अत्यन्त आदर करते हैं ॥ ३६ ॥

अप तस्य हुतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना । सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

अप । तस्य । हुतम् । तमः । वि-आवृत्तः । सः । पाप्मना ॥ सर्वाणि । तस्मिन् । ज्योतींषि । यानि । त्रीणि । प्रजा-पतौ ४०

भाषार्थ—(तस्य) उस [परमेश्वर] से (तमः) अन्धकार (अप हतम्) सर्वथा नष्ट है, (सः) वह (पाप्मना) पापसे (व्यावृत्तः) विमुक्त है । (तस्मिन् प्रजापतौ) उस प्रजा पालक [परमेश्वर] में (सर्वाणि) सब (ज्योतींषि) ज्योति हैं, (यानि) जो (त्रीणि) तीन [संयोग, वियोग और स्थिति रूप, यद्वा सत्त्व रज और तम रूप हैं] ॥ ४० ॥

भावार्थ—प्रकाशस्वरूप, निष्पाप, परमात्मा की महिमा से परमाणुओं के संयोग वियोग और स्थिति द्वारा, यद्वा, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों द्वारा यह संसार स्थित है ॥ ४० ॥

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद । स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

दीपनादिषु–इन्, धातोर्बल इत्यादेशः । राजकरम् । सत्कारम् (प्रयच्छन्ति) ददति (विमिते) विविधपरिमिते जगति (अमितम्) अपरिमितम् । अन्यत् पूर्ववत्–म० २२ ॥

४०—(अप हतम्) विनष्टम् (तस्य) तस्मात् परमेश्वरात् (तमः) अन्धकारः (व्यावृत्तः) निवृत्तः । विमुक्तः (पाप्मना) पापेन (सर्वाणि) (तस्मिन्) (ज्योतींषि) परमाणूनां संयोगवियोगस्थितिरूपाणि, सत्त्वरजस्तमोगुणरूपाणि वा तेजांसि (यानि) (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (प्रजापतौ) प्रजापालके जगदीश्वरे ॥

यः । वे॒त॒सम् । हि॒र॒ण्यय॑म् । तिष्ठ॑न्तम् । स॒लि॒ले । वेद॑ ॥
सः । वै । गुह्यः॑ । प्र॒जा-प॑तिः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (सलिले) अन्तरिक्ष में (तिष्ठन्तम्) ठहरे हुये (हिरण्ययम्) तेजोमय (वेतसम्) परस्पर बुने हुये [संसार] को (वेद) जानता है। (सः वै) वह ही (गुह्यः) गुप्त (प्रजापतिः) प्रजापालक है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा समस्त संसार का पालन करता है वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है ॥ ४१ ॥

तन्त्रमेके॑ युव॒ती विरू॑पे अ॒भ्या॒क्रामं॑ वयतः॒ षण्म॑यूखम् । प्रान्या तन्तूँ॑स्ति॒रते॒ धत्ते अ॒न्या नाप॑ वृञ्जाते॒ न ग॑मातो॒ अन्त॑म् ॥४२॥

तन्त्र॑म् । एके॒ इति॑ । यु॒व॒ती इति॑ । विरू॑पे॒ इति॑ वि-रू॑पे । अ॒भि॒-आ॒क्राम॑म् । व॒य॒तः॒ । षट्-म॑यूखम् ॥ प्र । अ॒न्या । तन्तू॑न् । ति॒रते॑ । धत्ते । अ॒न्या । न । अप॑ । वृ॒ञ्जाते॒ । इति॑ । न । ग॒मा॒तः॒ । अन्त॑म् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(एके) अकेली अकेली दो (युवती) युवा स्त्रियां [वा संयोग वियोग स्वभाव वाली] (विरूपे) विरुद्ध स्वरूप वाली [दिन और रात्रि की वेलायें] (अभ्याक्रामम्) परस्पर चढ़ाई करके (षण्मयू-

४१—(यः) परमेश्वरः (वेतसम्) वेञस्तुट् च । उ० ३ । ११८ । वेञ् तन्तुसन्ताने यद्वा वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु-असच्, तुट् च । ऊतं परस्परं स्यूतं संसारम् (हिरण्ययम्) तेजोमयम् (तिष्ठन्तम्) वर्तमानम् (सलिले) म० ३८ । अन्तरिक्षे (वेद) जानाति (सः) (वै) एव (गुह्यः) गुह संवरणे—क्यप् । गुहायां स्थितः । गुप्तः (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः ॥

४२ (तन्त्रम्) तनु विस्तारे-ष्ट्रन् । विस्तारम् । कालरूपजालम् (एके) एकैके (युवती) तरुणस्त्रियौ यथा । संयोगवियोगस्वभावे (विरूपे) विरुद्धस्वरूपे (अभ्याक्रामम्) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । पा० ३ । ४ । २२ । अभि + आङ् +

खम्) छह [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की दो दिशाओं] में परिमाण वा गति वाले (तन्त्रम्) तन्त्र [जाल अर्थात् काल] को (वयतः) बुनती हैं। (अन्या) कोई एक (तन्तून्) तन्तुओं [तागों अर्थात् प्रकाश वा अन्धकार] को (प्र तिरते) फैलाती है, (अन्या) दूसरी [उन्हें] (धत्ते) समेट धरती है। वे दोनों [उन्हें] (न अप वृञ्जाते) न छोड़ बैठती हैं (न) न (अन्तम्) अन्त तक (गमातः) पहुंचती हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जैसे दिन और रात्रि की वेलायें परस्पर विरुद्ध अर्थात् श्वेत और काली होकर भी प्रीति पूर्वक परमेश्वर की आज्ञा में चलकर संसार में परिगणनीय काल बनाती हैं, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर मित्र होकर ईश्वर की आज्ञापालन में सदा तत्पर रहें ॥ ४२ ॥

तयो॑रहं प॑रि॒नृत्य॑न्त्योरिव॒ न वि जा॑नामि य॒त॒रा प॒रस्ता॑त् ।
पुमा॑नेनद् वय॒त्युद्गृ॑णत्ति॒ पुमा॑नेनद् वि ज॑भा॒राधि॒ नाके॑ ॥ ४३ ॥

तयोः॑ । अ॒हम् । प॒रि॒नृत्य॑न्त्योः॑-इव । न । वि । जा॒ना॒मि॒ । य॒त॒रा । प॒रस्ता॑त् ॥ पु॒मान् । ए॒न॒त् । व॒य॒ति॒ । उत् । गृ॒ण॒त्ति॒ । पु॒मान् । ए॒न॒त् । वि । ज॒भा॒र॒ । अधि॑ । नाके॑ ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (न वि जानामि) कुछ नहीं जानता हूं-(परिनृत्यन्त्योः इव) इधर उधर नाचती हुई जैसे, (तयोः) उन दोनों [स्त्रियों] में से (यतरा) कौन सी (परस्तात्) [दूसरी से] परे है। (पुमान्) पुरुष

क्रमु पादविक्षेपे—णमुल्। परस्परमतिक्रम्य (वयतः) तन्तुरूपेण विस्तारयतः (षण्मयूखम्) माङ ऊखो मय च। उ० ५। २५। माङ् माने ऊख, धातोर्मयादेशः यद्वा मय गतौ—ऊख। षट्सु दिक्षु मयूखो मानं गतिर्वा यस्य तत् (अन्या) एका (तन्तून्) प्रकाशान्धकाररूपाणि सूत्राणि (प्र तिरते) वर्धयति। विस्तारयति (धत्ते) धरति (अन्या) (न) निषेधे (अप वृञ्जाते) अपत्यजतः (न) (गमातः) लड्र्थे लेट्। गच्छतः। प्राप्नुतः (अन्तम्) सीमाम् ॥

४३—(तयोः) युवत्योर्मध्ये (अहम्) (परिनृत्यन्त्योः) परितश्चेष्टायमानयोः (इव) यथा (न) निषेधे (वि) विशेषेण (जानामि) (यतरा) कतरा (परस्तात्) अग्रे वर्तमाना (पुमान्) अ० १। ८। १। पा रक्षणे-डुमसुन्।

[रक्षक परमेश्वर] (एनत्) इस [तन्त्र] को (वयति) बुनता है और (उत् गृणत्ति) निगल लेता है, (पुमान्) पुरुष ने (एनत्) इसको (नाके अधि) आकाश के भीतर (वि जभार) फैलाया था॥ ४३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को यह नहीं जान पड़ता कि काल चक्र में दिन और राति में से कौन सा पहिले है। परमेश्वर ही इनको बनाता बिगाड़ता है और उसी ने सृष्टि की आदि में इन्हें प्रकट किया था ॥ ४३ ॥

इ॒मे म॒यूखा॒ उप॑ तस्तभु॒र्दिवं॒ सामा॑नि च॒क्रुस्तस॑राणि॒ वात॑वे ४४(२५)

इ॒मे । म॒यूखाः॑ । उप॑ । त॒स्त॒भुः॒ । दिव॑म् । सामा॑नि । च॒क्रुः॒ । तस॑राणि । वात॑वे ॥ ४४ ॥ (२५)

भाषार्थ—(इमे) इन (मयूखाः) ज्ञानप्रकाशों ने (दिवम्) आकाश [ब्रह्माण्ड] को (उप तस्तभुः) धारण किया था और (तसराणि) विस्तारों को (वातवे) पाने के लिये (सामानि) मोक्ष ज्ञानों को (चक्रुः) बनाया था ॥४४

भावार्थ—सूक्तोक्त ईश्वरीय ज्ञानों द्वारा यह सब संसार स्थित है, और इन्हीं की पूर्ण प्राप्ति से मनुष्य मोक्ष सुख द्वारा अपना विस्तार करते हैं ॥४४॥

रक्षकः । पुरुषः । आदिपुरुषः (एनत्) (तन्त्रम्) (वयति) तन्तुवत् संतनोति (उत्) बन्धने (गृणत्ति) गॄ निगरणे, छान्दसं रूपम् । गिरति। निगरति। भक्षयति (पुमान्) (एनत्) (वि जभार) विहृतवान् । विस्तारितवान् (अधि) (नाके) अ० १ । ६ । २ । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीञ् प्रापणे आकप्रत्ययः, टि-लोपः । नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः,अथ द्यौः निरु० २ । १४ । आकाशे ॥

४४—(इमे) सूक्तोक्ताः (मयूखाः) माङऊखो मय च । उ० ५ । २५ । माङ् माने ऊख, धातोर्मयादेशः, यद्वा, मय गतौ ऊख । मयूखाः, रश्मिनाम—निघ० १ । ५ । ज्ञानप्रकाशाः (उप) (तस्तभुः) नलोपः । तस्तम्भुः । दध्रुः (दिवम्) आकाशम् । तत्रत्यब्रह्माण्डम् (सामानि) म० २० । मोक्षज्ञानानि (चक्रुः) कृतवन्तः (तसराणि) तन्यृषिभ्यां क्सरन् । उ० ३ । ७५ । तनु विस्तारे क्सरन्, कित्त्वादनुनासिकलोपः । विस्तारान् (वातवे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । वा गतिगन्धनयोः—तवेन् । प्राप्तुम् ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४४ ॥ आत्मा देवता ॥ १ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २, ५ भुरिगनुष्टुप्; ३, ३५, ३६ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४, १३, ३० भुरिक् त्रिष्टुप् ; ६, १४, १६, १९-२१, २३, २५, २६, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुप् ; ७ विराट् त्रिष्टुप्; ८, ९, १८, २४, २८, ४०, ४४, त्रिष्टुप् ; १० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप् ; ११ निचृज्जगती; १२ आर्षी पङ्क्तिः; १५ भुरिग् बृहती; १७, ३९ स्वराट् त्रिष्टुप् ; २२ पुरउष्णिक्; २६ निचृदनुष्टुप् ; २७ भुरिगार्षी बृहती; ४२ त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

परमात्म जीवात्मस्वरूपोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप का उपदेश ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

यः । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । यः । च । अधितिष्ठति ॥ स्वः । यस्य । च । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (भूतम्) भूतकाल (च च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब [जगत्] का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिसका (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [महान् परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार है ॥१॥

भावार्थ—तीनों कालों और सब जगत् के स्वामी सुखस्वरूप परमात्मा को हम सब का नमस्कार है ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ४ में व्याख्यात है ॥

१—(यः) परमेश्वरः (भूतम्) अतीतकालम् (च च) समुच्चये (भव्यम्) अनागतकालम् (सर्वम्) समस्तं जगत् (यः) (च) (अधितिष्ठति) शास्ति (स्वः) सुखम् (यस्य) ईश्वरस्य (च) (केवलम्) सेवनीयं स्वरूपम् (तस्मै) पूर्वोक्ताय (ज्येष्ठाय) अ० १० । ७ । १७ । वृद्धतमाय । प्रशस्यतमाय (ब्रह्मणे) अ० १० । ७ । ३२ । महते प्रजापतये परमेश्वराय (नमः) नमस्कारः ॥

स्कम्भेने॒मे विष्ट॑भिते॒ द्यौश्च॒ भूमि॑श्च तिष्ठतः। स्क॒म्भ इ॒दं सर्व॑मा॒त्मन्व॒द् यत् प्रा॒णन्नि॑मि॒षच्च॒ यत् ॥ २ ॥

स्क॒म्भेन॑। इ॒मे इति॑। विस्त॑भिते॒ इति॑ वि-स्त॑भिते। द्यौः। च॒। भूमि॑ः। च॒। ति॒ष्ठ॒तः। स्क॒म्भे। इ॒दम्। सर्व॑म्। आ॒त्मन्-व॒त्। यत्। प्रा॒णत्। नि॒-मि॒षत्। च॒। यत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भेन) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] करके (विष्टभिते) विविध प्रकार थांभे गये (इमे) यह दोनों (द्यौः) सूर्य (च च) और (भूमिः) भूमि (तिष्ठतः) स्थित हैं। (स्कम्भे) स्कम्भ [परमेश्वर] में (इदम्) यह (सर्वम्) सब (आत्मन्वत्) आत्मा वाला [जगत्] वर्तमान है, (यत्) जो कुछ (प्राणत्) श्वास लेता हुआ [चैतन्य] (च) और (यत्) जो (निमिषत्) आंखें मूंदे हुये [जड़] है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से आकर्षण द्वारा सूर्य, पृथिवी आदि लोक अपने अपने स्थान पर और आत्मा वाला जङ्गम और स्थावर जगत् वर्तमान है ॥ २ ॥

ति॒स्रो ह॑ प्र॒जा अ॒त्या॒यमा॑य॒न् न्य॑१॒न्या अ॒र्कम॒भितो॑ऽविशन्त। बृ॒हन् ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मानो॒ हरि॑तो॒ हरि॑णी॒रा वि॑वेश ॥३॥

ति॒स्रः। ह॒। प्र॒-जाः। अ॒ति-आ॒यम्। आ॒य॒न्। नि। अ॒न्याः। अ॒र्कम्। अ॒भितः॑। अ॒वि॒श॒न्त॒ ॥ बृ॒हन्। ह॒। त॒स्थौ॒। रज॑सः। वि॒-मान॑ः। हरि॑तः। हरि॑णीः। आ। वि॒वे॒श ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः) तीनों [ऊंची, नीची और मध्यम] (ह) ही (प्रजाः)

२—(स्कम्भेन) अ० १०।७।२। सर्वधारकेण परमेश्वरेण (इमे) दृश्यमाने (विष्टभिते) विविधं धारिते (द्यौः) सूर्यः (च च) (भूमिः) (तिष्ठतः) वर्तेते (स्कम्भे) (इदम्) (सर्वम्) (आत्मन्वत्) अ० ४।१०।७। आत्मना जीवेन युक्तं जगत् (यत्) (प्राणत्) श्वसत् (निमिषत्) निमेषणं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वत् (च) (यत्) ॥

३—(तिस्रः) उच्चनीचमध्यप्रकारेण त्रिसंख्याकाः (ह) एव (प्रजाः)

प्रजा [कार्यरूप उत्पन्न पदार्थ] (अत्यायम्) नित्य गमन आगमन को (आयन्) प्राप्त हुये, (अन्याः) दूसरे [कारण रूप पदार्थ] (अर्कम् अभि) पूजनीय [परमात्मा] के आस पास (नि अविशन्त) ठहरे। (रजसः) संसार का (बृहन् ह) बड़ा ही (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला [वा विमान रूप आधार, परमेश्वर] (तस्थौ) खड़ा हुआ और (हरितः) दुःख हरने वाले [हरि, परमात्मा] ने (हरिणीः) दिशाओं में (आ विवेश) सब ओर प्रवेश किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से पदार्थ कार्य दशा प्राप्त करके आगमन गमन करते हैं, और दूसरे नित्य कारण रूप पदार्थ परमात्माके सामर्थ्य में रहते हैं। इन सब पदार्थों की इयत्ता वही परमात्मा सब दिशाओं में व्याप कर जानता है ॥ ३ ॥

द्वा॑द॒श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत । तत्रा॑ह॒तास्त्रीणि॑ श॒तानि॑ श॒ङ्कवः॑ ष॒ष्टिश्च॒ खीला॒ अवि॑चाचला॒ ये ॥४॥

द्वाद॑श । प्र॒-धयः॑ । च॒क्रम् । एक॑म् । त्रीणि॑ । नभ्या॑नि । कः॑ । ऊं॒ इति॑ । तत् । चि॒के॒त॒ ॥ तत्र॑ । आ॒-ह॒ताः । त्रीणि॑ । श॒तानि॑ । श॒ङ्कवः॑ । ष॒ष्टिः । च॒ । खीलाः॑ । अवि॑-चाचलाः । ये ॥४॥

भाषार्थ—(द्वादश) बारह (प्रधयः) प्रधि [पुट्ठी अर्थात् महीने],

उत्पन्नपदार्थाः (अत्यायम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अत सातत्यगमने-इन्+आङ्+या गतौ-ड । अतिश्च आयश्च । स नपुंसकम् । पा० २ । ४ । १७ । इति समाहारे नपुंसकम् । नित्यगमनागमने (आयन्) इण् गतौ-लङ् । प्राप्नुवन् (अन्याः) कारणरूपाः पदार्थाः (अर्कम्) अर्चनीयं परमात्मानम् (अभि) अभितः (नि अविशन्त) तस्थुः (बृहन्) महान् (ह) एव (तस्थौ) (रजसः) लोकस्य (विमानः) विविधं मानकर्ता । विमानतुल्याधारः (हरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । हञ् नाशने-इतन् । दुःखहरः । हरिः परमेश्वरः (हरिणीः) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । इति बाहुलकाद् ङीब्नत्वे । हरितो दिङ्नाम—निघ० १ । ६ । दिशाः (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान् ॥

४—(द्वादश) (प्रधयः) प्रधितुल्यमासाः (चक्रम्) रथचक्रवद्वर्ष-

(एकम् चक्रम्) एक पहिया [वर्ष], (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभि के अङ्ग [ग्रीष्म, वर्षा और शीत] हैं, (कः उ) किसने ही (तत्) इस [मर्म] को (चिकेत) जाना है। (तत्र) उस [पहिये, वर्ष] में (त्रीणि) तीन (शतानि) सौ (च) और (षष्टिः) साठ (शङ्कवः) शङ्कु [कांटे] और (खीलाः) खीले [बड़े छोटे दिन] (आहताः) लगे हुये हैं, (ये) जो (अविचाचलाः) टेढ़े होकर विचल नहीं होते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने अपने अपने प्रयोजन के लिये वर्ष के महीने, ऋतुयें और दिन आदि बनाये हैं, वैसे ही मनुष्य यान, विमान नौका आदि में कलायन्त्र आदि लगाकर जाना आना आदि व्यवहार किया करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है-म० १ । सू० १६४ । म० ४८, और निरुक्त ४ । २७ में भी व्याख्यात है ॥

इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः । तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥ ५ ॥

इदम् । सवितः । वि । जानीहि । षट् । यमाः । एकः । एकजः ॥ तस्मिन् । ह । अपि-त्वम् । इच्छन्ते । ये । एषाम् । एकः । एक-जः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [विद्वान् !] (इदम्) इस [बात] को (वि जानीहि) विज्ञान पूर्वक जान [कि] (षट्) छह (यमाः) यम

कालः (एकम्) (त्रीणि) नभ्यानि) रथनाभिभवानि अङ्गानि । ग्रीष्मवर्षाशीतरूपाणि (कः) विद्वान् (उ) एव (तत्) (चिकेत) ज्ञातवान् (तत्र) चक्रे वर्षे (आहताः) हन हिंसागत्योः—क्त । आगताः । स्थापिताः (त्रीणि) (शतानि) (शङ्कवः) खरुशङ्कुपीयु० । उ० १ । ३६ । शकि त्रासे शङ्कायां च-कु । कीलाः (षष्टिः) (च) (खीलाः) कील बन्धने—क, कस्य खः । अल्पशङ्कवः (अविचाचलाः) नित्यं कौटिल्ये गतौ । पा० ३ । १ । २३ । अ + वि + चल गतौ—यङ्, अच् । अकुटिलगतयः (ये) ॥

५—(इदम्) वाक्यम् (सवितः) ऐश्वर्यवन् विद्वन् (वि) विशेषेण (जानीहि) (षट्) (यमाः) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि षष्ठं मनः (एकः) जीवात्मा (एकजः)

[नियम से चलने चलाने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन] और (एकः) एक [जीवात्मा] (एकजः) [अपने कर्मानुसार] अकेला उत्पन्न होने वाला है। (तस्मिन्) उस [जीवात्मा] में (ह) ही (अपित्वम्) बन्धुपन को (इच्छन्ते) वे [छह इन्द्रिय] प्राप्त करते हैं, (यः) जो [जीवात्मा] (एषाम्) इन [छह] के बीच (एकः) एक (एकजः) अकेला उत्पन्न होने वाला है ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य को खोजना चाहिये कि इस शरीर में कौन से शुभ और अशुभ संस्कारों के कारण जीवात्मा के साथ पांच ज्ञानेंद्रिय अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र जिह्वा नासिका और छठे मनका संबन्ध है ॥ ५ ॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्। तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

आविः। सत्। नि-हितम्। गुहा। जरत्। नाम। महत्। पदम् ॥ तत्र। इदम्। सर्वम्। आर्पितम्। एजत्। प्राणत्। प्रति-स्थितम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आविः) प्रकट, (जरत्) स्तुति योग्य, (नाम) प्रसिद्ध (महत्) पूजनीय, (पदम्) पाने योग्य (सत्) अविनाशी ब्रह्म (गुहा) हृदय में (निहितम्) दृढ़ स्थापित है। (तत्र) उसी [ब्रह्म] में (अर्पितम्) जमा हुआ (इदम् सर्वम्) यह सब (एजत्) चेष्टा करता हुआ और (प्राणत्)

एक एव जातः (तस्मिन्) जीवात्मनि (ह) एव (अपित्वम्) इणजादिभ्यः। वा० पा० ३। ३। १०८। आप्लृ व्याप्तौ-इण्। छान्दसो ह्रस्वः। आपित्वम्। बन्धुत्वम् (इच्छन्ते) कामयन्ते (यः) जीवात्मा (एषाम्) यमानां मध्ये। अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(आविः) अ० ८। ३। २४। आङ्+अव रक्षणादिषु-इसि। प्रकटम् (सत्) अविनाशि ब्रह्म (निहितम्) दृढं स्थापितम् (गुहा) गुहायाम्। हृदये (जरत्) जीर्यतेरतृन्। पा० ३। २। १०४। इति जॄ स्तुतौ—अतृन्, बाहुलकात्। जरा स्तुति जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०। ८। स्तुत्यम् (नाम) प्रसिद्धम् (महत्) पूजनीयम् (पदम्) प्रापणीयम् (तत्र) ब्रह्मणि (इदम्) दृश्यमानम्

श्वास लेता हुआ (प्रतिष्ठितम्) प्रत्यक्ष स्थित है ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म सब सृष्टि के भीतर और बाहिर व्यापकर सबको नियम में चलाता है ॥ ६ ॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व १ तद् बभूव ॥ ७ ॥

एक-चक्रम् । वर्तते । एक-नेमि । सहस्र-अक्षरम् । प्र । पुरः । नि । पश्चा ॥ अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । क्व । तत् । बभूव ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(एकचक्रम्) एक चक्र वाला और (एकनेमि) एक नेमी [नियम] वाला (सहस्राक्षरम्) सहस्रों प्रकार से व्याप्ति वाला [ब्रह्म] (प्र) भली भांति (पुरः) आगे और (नि) निश्चय करके (पश्चा) पीछे (वर्तते) वर्तमान है । उस ने (अर्धेन) आधे [खण्ड] से (विश्वम्) सब (भुवनम्) अस्तित्व [जगत्] को (जजान) उत्पन्न किया और (यत्) जो (अस्य) इस [ब्रह्म] का (अर्धम्) [दूसरा कारण रूप] आधा है, (तत्) वह (क्व) कहां (बभूव) रहा ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म अपने अटूट नियम से सब जगत् में व्यापकर सब से पहिले और पीछे निरन्तर वर्तमान है । उसने अपने थोड़े से सामर्थ्य से यह बहुत बड़ा ब्रह्माण्ड रचा है और जिस कारण से वह रचता चला जाता है उसका परिमाण मनुष्य नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० ११ । ४ । २२ ॥

(सर्वम्) जगत् (आर्पितम्) समन्तात् स्थापितम् (एजत्) चेष्टायमानम् (प्राणत्) श्वसत् (प्रतिष्ठितम्) प्रत्यक्षं स्थितम् ॥

७—(एकचक्रम्) एकं चक्रं यस्य तत् (वर्तते) (एकनेमि) नियोमिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे-मि । एको नेमिर्नयनं चालनं यस्य तत् (सहस्राक्षरम्) अशेः सरः । उ० ३ । ७० । अशू व्याप्तौ-सरप्रत्ययः । बहुविधव्यापकम् (प्र) प्रकर्षेण (पुरः) पुरस्तात् । अग्रे (नि) (निश्चयेन) (पश्चा) पश्चात् (अर्धेन) अल्पखण्डेन (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) अस्तित्वम् (जजान) उत्पादयामास (यत्) (अस्य) ब्रह्मणः (अर्धम्) (क्व) कुत्र (तत्) (बभूव) वबृते ॥

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति । अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥

पञ्च-वाही । वहति । अग्रम् । एषाम् । प्रष्टयः । युक्ताः । अनु-संवहन्ति ॥ अयातम् । अस्य । ददृशे । न । यातम् । परम् । नेदीयः । अवरम् । दवीयः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पञ्चवाही) पांच [पृथिवी आदि तत्त्व] को ले चलने वाला [परमेश्वर] (एषाम्) इन [सब लोकों] के (अग्रम्) आगे आगे (वहति) चलता है, (प्रष्टयः) प्रश्न करने योग्य पदार्थ (युक्ताः) संयुक्त होकर (अनुसंवहन्ति) [उसके] पीछे चले चलते हैं। (अस्य) इस परमेश्वर] का (अयातम्) न जाना [निकट रहना, विद्वानों करके] (ददृशे) देखा गया है और (यातम्) जाना [दूर होना] (न) नहीं, (अवरम्) सर्वोत्तम (परम्) परब्रह्म [विद्वानों से] (नेदीयः) अधिक निकट और [अविद्वानों से] (दवीयः) अधिक दूर है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच तत्त्वों को रचकर नियम में चलाता है। विद्वान् लोग उसको अपने भीतर जानकर प्रबल, और मूर्ख उसे दूर समझकर निर्बल रहते हैं ॥ ८ ॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

तिर्यक्-बिलः । चमसः । ऊर्ध्व-बुध्नः । तस्मिन् । यशः । नि-

८—(पञ्चवाही) वह प्रापणे—णिनि । पञ्चानां पृथिव्यादिपदार्थानां वाहको नायकः परमेश्वरः (वहति) गच्छति (अग्रम्) अग्रं (एषाम्) लोकानाम् (प्रष्टयः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—ति । प्रष्टव्याः पदार्थाः (युक्ताः) संयुक्ताः सन्तः (अनुसंवहन्ति) ईश्वरमनुसृत्य मिलित्वा गच्छन्ति (अयातम्) अगमनम् (अस्य) ईश्वरस्य (ददृशे) दृष्टं बभूव (न) निषेधे (यातम्) गमनम् (परम्) परब्रह्म (नेदीयः) अन्तिकतरम् (अवरम्) नास्ति वरं यस्मात् तत् । अनुत्तमम् । सर्वश्रेष्ठम् (दवीयः) दूरतरम् ॥

हितम् । विश्व-रूपम् ॥ तत् । आसते । ऋषयः । सप्त । साकम् । ये । अस्य । गोपाः । महतः । बभूवुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तिर्यग्बिलः) तिरछे बिल [छिद्र] वाला, (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर को बन्धन वाला (चमसः) पात्र [अर्थात् मस्तक] है, (तस्मिन्) उस [पात्र] में (विश्वरूपम्) सम्पूर्ण (यशः) यश [व्याप्ति वाला ज्ञान सामर्थ्य] (निहितम्) स्थापित है । (तत्) उस [पात्र] में (सप्त) सात (ऋषयः) ऋषि [ज्ञान कारक वा मार्गदर्शक इन्द्रियां] (साकम्) मिलकर (आसते) बैठते हैं, (ये) जो (अस्य) इस (महतः) बड़े [शरीर] के (गोपाः) रक्षक (बभूवुः) हुये हैं ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मस्तक की विचित्र रचना की है, उसमें अद्भुत रचना वाले कान आदि गोलक तिरछे और केश ऊपर को हैं, उस में दो कान, दो नेत्र, दो नथने और एक मुख, इन सातों के द्वारा प्राणी ज्ञान प्राप्त करके शरीर की रक्षा करता है ॥ ९ ॥

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः । यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥ (२६)

या । पुरस्तात् । युज्यते । या । च । पश्चात् । या । विश्वतः । युज्यते । या । च । सर्वतः । यया । यज्ञः । प्राङ् । तायते । ताम् । त्वा । पृच्छामि । कतमा । सा । ऋचाम् ॥ १० ॥ (२६)

९—(तिर्यग्बिलः) वक्रगतिच्छिद्रयुक्तः (चमसः) पात्रम् । मस्तकम् (ऊर्ध्वबुध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । उपरिबन्धनः (तस्मिन्) चमसे (यशः) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । व्याप्तौ—असुन् युडागमः । व्याप्तिमद् ज्ञानसामर्थ्यम् (निहितम्) स्थापितम् (विश्वरूपम्) समस्तम् (तत्) तत्र (आसते) उपविशन्ति (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ९ । ऋष गतौ दर्शने च—इन् । ज्ञानकराणि मार्गदर्शकानि वा शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (सप्त) (साकम्) परस्परम् (ये) (अस्य) दृश्यमानस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे—अच् । रक्षकाः (महतः) विशालस्य शरीरस्य (बभूवुः) ॥

भाषार्थ—(या) जो [वाणी] (पुरस्तात्) पहिले से (च) और (या) जो (पश्चात्) पीछे से (युज्यते) संयुक्त है, (या) जो (विश्वतः) सब ओर से (च) और (या) जो (सर्वतः) सब काल से (युज्यते) संयुक्त है। (यया) जिस [वाणी] करके (यज्ञः) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] (प्राङ्) आगे (तायते) फैलता है, (ताम्) उस [वाणी] को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूंछता हूं—"(ऋचाम्) वाणियों में से (सा) वह (कतमा) कौन सी [वाणी] है" ॥ १० ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि के पहिले, पीछे और वर्तमान में है, और जो सब जगत् का कर्ता है, वह ओ३म् या ब्रह्म है जिसका वर्णन अगले मन्त्रों में है। गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, प्रथम प्रपाठक, खण्ड २२ में इस मन्त्र की प्रतीक देकर ओङ्कार का विशेष वर्णन है ॥ १० ॥

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ११

यत्। एजति। पतति। यत्। च। तिष्ठति। प्राणत्। अप्राणत्। नि-मिषत्। च। यत्। भुवत् ॥ तत्। दाधार। पृथिवीम्। विश्व-रूपम्। तत्। सम्-भूय। भवति। एकम्। एव ११

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ [जगत्] (एजति) चेष्टा करता है, (पतति) उड़ता है, (च) और (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) ठहरता है, (प्राणत्) श्वास लेता हुआ, (अप्राणत्) न श्वास लेता हुआ (च) और (यत्) जो कुछ

१०—(या) ऋक्। वाणी (पुरस्तात्) अग्रे (युज्यते) संयुक्ता भवति (च) (पश्चात्) (विश्वतः) सर्वदेशात् (सर्वतः) सर्वकालात् (यया) ऋचा। वाचा (यज्ञः) पूजनीयव्यवहारः (प्राङ्) अग्रगामी (तायते) विस्तीर्यते (ताम्) (त्वा) विद्वांसम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (कतमा) बह्वीनां मध्ये का (सा) (ऋचाम्) ऋग्वाङ् नाम—निघ० १। ११। वाचां मध्ये ॥

११—(यत्) यत्पदार्थमात्रम् (एजति) चेष्टते (पतति) उड्डीयते (यत्) (च) (तिष्ठति) (प्राणत्) प्रश्वसत् (अप्राणत्) अप्रश्वसत् (निमिषत्) चक्षुर्निमीलनं कुर्वत् (च) (यत् (भुवत्) शॄदृभसोऽदिः। उ० १। १३० । भू

(निमिषत्) आंख मूंदे हुये (भुवत्) विद्यमान है । (विश्वरूपम्) सबको रूप देने वाले (तत्) विस्तृत [ब्रह्म] ने [उस सबको और] (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (तत्) वह [ब्रह्म] (संभूय) शक्तिमान् होकर (एकम् एव) एकही (भवति) रहता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म विविध प्रकार जगत् को रचकर सबका धारण पोषण करता है ॥ ११ ॥

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते । ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अनन्तम् । वि-ततम् । पुरु-त्रा । अनन्तम् । अन्त-वत् । च । समन्ते इति सम्-अन्ते ॥ ते इति । नाक-पालः । चरति । वि-चिन्वन् । विद्वान् । भूतम् । उत । भव्यम् । अस्य ॥१२॥

भाषार्थ—(अनन्तम्) अन्त रहित (पुरुत्रा) बहुत प्रकार (विततम्) फैला हुआ [ब्रह्म अर्थात्] (नाकपालः) मोक्ष सुख का स्वामी [परमात्मा] (समन्ते) परस्पर सीमा युक्त (ते) उन [दोनों अर्थात्] (अनन्तम्) अन्तरहित [कारण] (च) और (अन्तवत्) अन्त वाले [कार्य जगत्] को (विचिन्वन्) अलग अलग करता हुआ और (अस्य) इस [ब्रह्माण्ड] का (भूतम्) भूतकाल (उत) और (भव्यम्) भविष्यत् काल को (विद्वान्) जानता हुआ (चरति) विचरता है ॥ १२ ॥

सत्तायाम्-अदि, क्विप् । वर्तमानम् (तत्) त्यजितनि० । उ० १ ॥१३२ । तनु विस्तारे-अदि, डित् । विस्तृतं ब्रह्म (दाधार) पुपोष (पृथिवीम्) (विश्वरूपम्) सर्वेषां रूपकरम् (तत्) (संभूय) शक्तिमद् भूत्वा (भवति) वर्तते (एकम्) अद्वितीयम् (एव) ॥

१२—(अनन्तम्) अन्तरहितम् (विततम्) विस्तृतं ब्रह्म (पुरुत्रा) बहुविधम् (अनन्तम्) अन्तरहितं कारणम् (अन्तवत्) सान्तं कार्यम् (च) (समन्ते) परस्परसीमायुक्ते (ते) द्वे (नाकपालः) मोक्षसुखस्य स्वामी (चरति) गच्छति (विचिन्वन्) पृथक् पृथक् कुर्वन् (विद्वान्) जानन् (भूतम्) गतकालम् (उत) अपि (भव्यम्) अनागतकालम् (अस्य) जगतः ॥

भावार्थ—अनन्त मोक्षस्वरूप परमात्मा कारण कार्य रूप जगत् तथा भूत भविष्यत् और वर्तमान कालको जानता हुआ सदा वर्तमान है ॥ १२ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥१३॥

प्रजा-पतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अदृश्यमानः । बहु-धा । वि । जायते ॥ अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । कतमः । सः । केतुः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजा [सब जगत्] का पालने वाला (गर्भे) गर्भ [गर्भ रूप आत्मा] के (अन्तः) भीतर (चरति) विचरता है और (अदृश्यमानः) न दीखता हुआ वह (बहुधा) बहुत प्रकार (वि जायते) विशेष कर के प्रकट होता है। उसने (अर्धेन) आधे खण्ड से (विश्वम्) सब (भुवनम्) अस्तित्व [जगत्] को (जजान) उत्पन्न किया, और (यत्) जो (अस्य) इस [ब्रह्म] का (अर्धम्) [दूसरा कारणरूप]आधा है, (सः) वह (कतमः) कौन सा (केतुः) चिह्न है॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा अज्ञानियों को नहीं दीखता, उसको विवेकी जन सूक्ष्मदृष्टि से सब के भीतर व्यापक पाते हैं। उसी ईश्वर की सामर्थ्य से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और उसी की शक्ति में अनन्त कारणरूप पदार्थ वर्तमान हैं ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध यजुर्वेद में है—अ० ३१ । म० १९ । और तीसरा पाद ऊपर मन्त्र ७ में आ चुका है ॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् । पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

१३—(प्रजापतिः) जगत्पालकः परमेश्वरः (चरति) विचरति (गर्भे) गर्भरूपे जीवात्मनि (अन्तः) मध्ये (अदृश्यमानः) अनीक्ष्यमाणः (बहुधा) अनेकविधम् (वि) विशेषेण (जायते) प्रादुर्भवति) (कतमः) बहूनां मध्ये कः (सः) (केतुः) ज्ञापकः । बोधः । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

ऊ॒र्ध्वम् । भर॑न्तम् । उ॒द॒कम् । कु॒म्भेन॑-इव । उ॒द्-हा॒र्य॑म् ॥
पश्य॑न्ति । सर्वे॑ । चक्षु॑षा । न । सर्वे॑ । मन॑सा । वि॒दुः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(कुम्भेन) घड़े से (उदकम्) जल को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (भरन्तम्) भरते हुये (उदहार्यम्) जल लाने वाले को (इव) जैसे, [उस परमेश्वर को] (सर्वे) सब लोग (चक्षुषा) आंख से (पश्यन्ति) देखते हैं, (सर्वे) (मनसा) मन से (न) नहीं (विदुः) जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—प्रायः मनुष्य परमेश्वर को उसकी स्थूल रचनाओं से देखते हैं जैसे कूप में से घड़े द्वारा जल खींचने वाले को। परन्तु विवेकी पुरुष उस उन्नति कर्ता ईश्वर को उसकी सूक्ष्म रचनाओं से अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

दू॒रे पू॒र्णेन॑ वसति दू॒र ऊ॒नेन॑ हीयते । म॒हद् य॒क्षं भुव॑नस्य
मध्ये॒ तस्मै॑ ब॒लिं रा॑ष्ट्र॒भृतो॑ भरन्ति ॥ १५ ॥

दू॒रे । पू॒र्णेन॑ । व॒स॒ति॒ । दू॒रे । ऊ॒नेन॑ । ही॒य॒ते॒ ॥ म॒हत् । य॒क्षम् ।
भुव॑नस्य । मध्ये॑ । तस्मै॑ । ब॒लिम् । रा॒ष्ट्र॒-भृतः॑ । भ॒र॒न्ति॒ ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(महत्) बड़ा (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] (भुवनस्य मध्ये) संसार के बीच (दूरे) दूर में [वर्तमान होकर] (पूर्णेन) पूर्ण [पूरे विद्वान्] के साथ (वसति) बसता है, और (ऊनेन) हीन [अधूरे पुरुष] के साथ (दूरे) दूर देश में (हीयते) त्यागा जाता है, (तस्मै) उस [ब्रह्म] को

१४—(ऊर्ध्वम्) (भरन्तम्) हरन्तम्। प्रापयन्तम् (उदकम्) जलम् (कुम्भेन) घटेन (इव) यथा (उदहार्यम्) हञ् प्रापणे-ण्यत्। कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३। ३। ११३। इति कर्तरि प्रत्ययः। जलहारम्। कहारम् (पश्यन्ति) सर्वे (चक्षुषा) नेत्रेण (न) निषेधे (सर्वे) (मनसा) मननेन (विदुः) जानन्ति ॥

१५—(दूरे) दूरे वर्तमानः सन् अतिसूक्ष्मत्वात् (पूर्णेन) महाविदुषा सह (वसति) वर्तते (दूरे) (ऊनेन) विद्याहीनेन सह (हीयते) त्यज्यते (महत्) बृहत् (यक्षम्) पूजनीयं ब्रह्म (भुवनस्य) जगतः (मध्ये) (तस्मै)

(राष्ट्रभृतः) राज्य धारण करने वाले लोग (बलिम्) सन्मान (भरन्ति) धारण करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमात्मा को विद्वान् लोग सब स्थान में पाकर बली होकर आनन्द भोगते हैं, और मूर्ख जन उसे न जान कर सदा दुःखी रहते हैं। उसी महाराजाओं के महाराजा की सब उपासना करें ॥ १५ ॥

यतः सूर्यं उदेत्यस्तं यत्रं च गच्छंति । तदे॒व मन्ये॒ऽहं ज्ये॒ष्ठं तदु॒ नात्यैति॒ किं च॒न ॥ १६ ॥

यतः । सूर्यः । उत्-एति । अस्तम् । यत्रं । च । गच्छंति ॥ तत् । एव । मन्ये॒ । अहम् । ज्ये॒ष्ठम् । तत् । ऊं॒ इति । न । अति । एति॒ । किम् । च॒न ॥ १६ ॥

भाषार्थ-(यतः) जिस से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है, (च) और (यत्र) जिस में (अस्तम्) अस्त को (गच्छति) प्राप्त होता है। (तत् एव) उसे ही (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा] (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूं, (तत् उ) उस से (किं चन) कोई भी (न अति एति) बढ़कर नहीं है ॥१६॥

भावार्थ जिस परमात्मा से सृष्टि समय में सूर्य आदि उत्पन्न होते और प्रलय काल में वे सब जिसमें लय हो जाते हैं, उस महान् की उपासना सब लोग करें ॥ १६ ॥

ये अर्वाङ् मध्यं उत वा पुराणं वेदं विद्वांसंमभितो वदंन्ति । आदित्यमे॒व ते परि वदन्ति॒ सर्वे॑ अ॒ग्निं द्वि॒तीयं॑ त्रि॒वृतं॑ च हं॒सम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मणे (बलिम्) सत्कारम् (राष्ट्रभृतः) राज्यधारकाः । महाराजाः (भरन्ति) कुर्वन्ति ॥

१६—(यतः) यस्मात् परमेश्वरात् (सूर्यः) (उदेति) उद्गच्छति (अस्तम्) अदर्शनम् (यत्र) यस्मिन् ब्रह्मणि (च) (गच्छति) प्राप्नोति (तत्) ब्रह्म (एव) (मन्ये) जानामि (अहम्) (ज्येष्ठम्) महत्तमम् (तत) ब्रह्म (उ) पादपूरणे (न) निषेधे (अत्येति) अतिक्रामति (किम् चन) किमपि ॥

ये । अर्वाङ् । मध्ये । उत । वा । पुराणम् । वेदम् । विद्वांसम् । अभितः । वदन्ति ॥ आदित्यम् । एव । ते । परि । वदन्ति । सर्वे । अग्निम् । द्वितीयम् । त्रि-वृतम् । च । हंसम् १७

भाषार्थ—(ये) जो [विद्वान्] (अर्वाङ्) अवर [इस काल वा लोक] में, (मध्ये) मध्य में (उत वा) अथवा (पुराणम्) पुराने काल में [वर्तमान] (वेदम्) वेद के (विद्वांसम्) जानने वाले [परमात्मा] को (अभितः) सब ओर से (वदन्ति) बखानते हैं। (ते सर्वे) वे सब [विद्वान्, उस] (आदित्यम्) खण्डन रहित [परमात्मा] को (एव) ही (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप] (च) और (द्वितीयम्) दूसरा [दूसरे नाम वाला] (त्रिवृतम्) तीनों [कर्म, उपासना और ज्ञान] को स्वीकार करने वाला (हंसम्) हंस [सर्व व्यापक वा सर्वज्ञानी] (परि) निरन्तर (वदन्ति) बताते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा तीनों काल तीनों लोक में वर्तमान और सत्यज्ञानी है, उसको विवेकी जन वेदविहित कर्म, उपासना और ज्ञान से प्राप्त हो कर मुक्तिसुख भोगते हैं ॥ १७ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।१८

१७—(ये) विद्वांसः (अर्वाङ्) अवरे देशे काले वा (मध्ये) (उत वा) अथवा (पुराणम्) अ० १० ।७ । २६ । पुरातनकाले (वेदम्) अ० ७ । २८ । १। परमेश्वरज्ञानम् (विद्वांसम्) विदेः शतुर्वसुः । पा० ७ । १ । ३ । वेत्तेः शतुर्वसुरादेशो वा । विदन्तं जानन्तं परमेश्वरम् (अभितः) सर्वतः (वदन्ति) कथयन्ति (आदित्यम्) अ० १ । ६ । १ । दो अवखण्डने-क्तिन् । दितिः खण्डः, अदितिः अखण्डः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । अदिति-ण्यप्रत्ययो भवार्थे । खण्डरहितं परमेश्वरम् (एव) (ते) (विद्वांसः) (परि) सर्वतः (वदन्ति) (सर्वे) (अग्निम्) प्रकाशस्वरूपम् (द्वितीयम्) द्वितीयनाम्ना प्रसिद्धम् (त्रिवृतम्) त्रि + वृञ् वरणे-क्विप् तुक् च । त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वृणोति स्वीकरोतीति तम् (च) (हंसम्) अ० ६ । १२ । १ । हन हिंसागत्योः-स । हन्ति गच्छतीति हंसः । सर्वव्यापकं परमात्मानम् ॥

सहस्र-अह्न्यम् । वि-यतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वः-गम् ॥ सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उप-दद्य । सम्-पश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(स्वर्गम्) मोक्षसुख को (पततः) प्राप्त हुये (अस्य) इस [सर्वत्र वर्तमान] (हरेः) हरि [दुःख हरनेवाले] (हंसस्य) हंस [सर्वव्यापक परमेश्वर] के (पक्षौ) दोनों पक्ष [ग्रहण करने योग्य कार्य कारण रूप व्यवहार] (सहस्राह्नयम्) सहस्रों दिनों वाले [अनन्त देश काल] में (वियतौ) फैले हुये हैं । (सः) वह [परमेश्वर] (सर्वान्) सब (देवान्) दिव्यगुणों को [अपने] (उरसि) हृदय में (उपदद्य) लेकर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (संपश्यन्) निरन्तर देखता हुआ (याति) चलता रहता है ॥१८॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से अनन्तकार्य कारण रूप जगत् की निरन्तर सुधि रखता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर का विचार करता हुआ सब कामों में सदा सावधान रहे ॥ १८ ॥

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति । प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

सत्येन । ऊर्ध्वः । तपति । ब्रह्मणा । अर्वाङ् । वि । पश्यति ॥ प्राणेन । तिर्यङ् । प्र । अनति । यस्मिन् । ज्येष्ठम् । अधि । श्रितम् ॥ १९ ॥

१८—(सहस्राह्नयम्) भवे च । पा० ४ । ४ । १३८ । बाहुलकाद् यप्रत्ययः । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । सहस्रदिनयुक्तम् । अनन्तं देशं कालं वा (वियतौ) यम—क्त । विस्तृतौ (अस्य) (पक्षौ) पक्षपरिग्रहे—अच् । परिग्रहौ कार्यकारणरूपौ—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० १८ । ५२ (हरेः) दुःखहरस्य (हंसस्य) म० १७ (पततः) गच्छतः । प्राप्नुवतः (स्वर्गम्) मोक्षसुखम् (सः) (देवान्) दिव्यगुणान् (सर्वान्) (उरसि) हृदये (उपदद्य) उप+दद दाने—ल्यप् । आदाय (संपश्यन्) निरीक्षमाणः (याति) गच्छति (भुवनानि) लोकान् (विश्वा) सर्वाणि ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (सत्येन) सत्य [मनकी सच्चाई] से (ऊर्ध्वः] ऊंचा होकर (तपति) प्रतापी होता है, (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अर्वाङ्) अवर [इस ओर] होकर (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखता है। (प्राणेन) प्राण [आत्मबल] के साथ (तिर्यङ्) आड़ा तिरछा होकर (प्र) अच्छी रीति से (अनति) जीता है, (यस्मिन्) जिस [पुरुष] के भीतर (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा ब्रह्म] (अधि श्रितम्) निरन्तर ठहरा हुआ है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने में परमात्मा को देखता है, वह सत्यव्रत धारण करके ज्ञान द्वारा आत्मबल प्राप्त करके उपकारी होकर जीवन सुफल करता है ॥ १६ ॥

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु । स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥ (२७)

यः । वै । ते इति । विद्यात् । अरणी इति । याभ्याम् । निःमथ्यते । वसु ॥ सः । विद्वान् । ज्येष्ठम् । मन्येत । सः । विद्यात् । ब्राह्मणम् । महत् ॥ २० ॥ (२७)

भाषार्थ—(यः) जो [पुरुष] (वै) निश्चय करके (ते) उन दोनों (अरणी) अरणियों [रगड़ कर अग्नि निकालने की दो लकड़ियों] को (विद्यात्) जान लेवे, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वसु) अग्नि (निर्मथ्यते) मथकर

१६—(सत्येन) सद्भ्यो हितम्. सत्-यत्। यथार्थं कथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्। तत् सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययम् ॥ १ ॥ यथार्थकर्मणा (ऊर्ध्वः) उपरिस्थः (तपति) ईष्टे। प्रतापी भवति (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अर्वाङ्) अवरदेशे भवन् (वि) विविधम् (पश्यति) (प्राणेन) आत्मबलेन (तिर्यङ्) इतस्ततो देशे भवन् (प्र) प्रकर्षेण (अनति) अनिति। जीवति (यस्मिन्) पुरुषे (ज्येष्ठम्) महत्तमम् ब्रह्म (अधि श्रितम्) प्रतिष्ठितम् ॥

२०—(यः) विद्वान् (वै) निश्चयेन (ते) उभे (विद्यात्) जानीयात् (अरणी) अर्त्तिसृधृ०। उ० २। १०२। ऋ गतौ—अनि। अरणी प्रत्यृत एने अग्निः समरणाज्जायत इति वा—निरु० ५। १०। अग्न्युत्पत्तये मथनी द्वे दारुणी (याभ्याम्) अरणिभ्याम् (निर्मथ्यते) मथनेन निःसार्यते (वसु) विभक्ते-

निकाला जाता है। (सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़े ब्रह्म] को (मन्येत) समझ लेगा, और (सः) वह (महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] को (विद्यात्) जानेगा ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे दो लकड़ियों को रगड़ कर आग निकालते हैं, वैसे ही विद्वान् कार्य कारण की सूक्ष्मता को समझ कर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं २०

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत्। चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥ २१ ॥

अपात्। अग्रे। सम्। अभवत्। सः। अग्रे। स्वः। आ। अभरत् ॥ चतुःऽपात्। भूत्वा। भोग्यः। सर्वम्। आ। अदत्त। भोजनम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अपात्) विभाग रहित [परमात्मा] (अग्रे) पहिले (सम् अभवत्) समर्थ हुआ, (सः) उस ने (अग्रे) पहिले (स्वः) मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (अभरत्) धारण किया। (चतुष्पात्) चारों दिशाओं में स्थिति वा गति वाले [उस परमेश्वर] ने (भोग्यः) [सुखों से] भोगने [अनुभव करने] योग्य (भूत्वा) होकर (सर्वम्) सब (भोजनम्) सुख वा ऐश्वर्य को (आ अदत्त) ग्रहण किया ॥ २१ ॥

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि के आदि से सब संसार में व्याप कर सब सुखों का भण्डार है ॥ २१ ॥

लुक्। वसुः। अग्निः (सः) (विद्वान्) प्राज्ञः (ज्येष्ठम्) महत्तमं ब्रह्म [मन्येत] जानीयात् (सः) (विद्यात्) [ब्राह्मणम्] ब्रह्मणः परमेश्वराज् जातं विज्ञानम् (महत्) पूजनीयम् ॥

२१—(अपात्) अ० ६। १०। २३। पादेन विभागेन रहितः परमेश्वरतः (अग्रे) सृष्ट्यादौ (सम् अभवत्) समर्थोऽभवत् (सः) (अग्रे) (स्वः) मोक्षसुखम् (आ) समन्तात् (अभरत्) धृतवान् (चतुष्पात्) अ० ४। ११। ५। पद स्थैर्ये गतौ च—घञ्, अन्तलोपः। चतसृषु दिक्षु पादः स्थितिर्गतिर्वा यस्य सः परमेश्वरः (भूत्वा) (भोग्यः) भुज पालनाभ्यवहारयोः—ण्यत्। सुखैरनुभवीयः (सर्वम्) (आ अदत्त) गृहीतवान् (भोजनम्) भुज—ल्युट्। सुखम्। ऐश्वर्यम्। धनम्—निघ० २। १०॥

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु । यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

भोग्यः । भवत् । अथो इति । अन्नम् । अदत् । बहु ॥ यः । देवम् । उत्तर-वन्तम् । उप-आसातै । सनातनम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—वह (भोग्यः) [सुखों से] अनुभव योग्य (भवत्) होगा (अथो) और भी (बहु) बहुत (अन्नम्) अन्न [जीवन साधन] (अदत्) भोगेगा । (यः) जो [मनुष्य] (उत्तरवन्तम्) अति उत्तम गुण वाले (सनातनम्) सनातन [नित्य स्थायी] (देवम्) देव [स्तुति योग्य परमेश्वर] को (उपासातै) पूजेगा ॥ २२ ॥

भावार्थ—वह मनुष्य अनेक सुखों से युक्त होकर बहुत अन्नवान् होगा, जो जगत्पिता परमेश्वर की उपासना करेगा ॥ २२ ॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः । अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

सनातनम् । एनम् । आहुः । उत । अद्य । स्यात् । पुनः-नवः ॥ अहोरात्रे इति । प्र । जायेते इति । अन्यः । अन्यस्य । रूपयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस [सर्वव्यापक] को (सनातनम्) सनातन [नित्य स्थायी परमात्मा] (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं, (उत) और वह

२२—(भोग्यः) सुखैरनुभवीयः (भवत्) लेट् । भूयात् (अथो) अपि च (अन्नम्) जीवनसाधनम् (अदत्) लेट् । अद्यात् (बहु) (यः) पुरुषः (देवम्) स्तुत्यं परमात्मानम् (उत्तरवन्तम्) अ० ४ । २२ । ५ । अतिश्रेष्ठ-गुणयुक्तम् (उपासातै) आस उपवेशने—लेट् । पूजयेत् (सनातनम्) सायंचिरं प्राह्णेप्रगे० । पा० ४ । ३ । २३ । इति सना—ट्युल् तुट् च । सदाभवम् । नित्यं परमेश्वरम् ॥

२३—(सनातनम्) म० २२ । सदावर्तमानम् (एनम्) सर्वव्यापकं परमात्मानम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (उत) अपि (अद्य) वर्तमाने दिने ।

(अद्य) आज [प्रतिदिन] (पुनर्णवः) नित्य नवा (स्यात्) होता जावे । (अहोरात्रे) दिन और राति दोनों (अन्यो अन्यस्य) एक दूसरे के (रूपयोः) दो रूपों में से (प्र जायेते) उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—नित्यस्थायी परमात्मा के गुण जिज्ञासुओं को नित्य नवीन विदित होते जाते हैं, जैसे दिन राति से और राति दिन से नित्य नवीन उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् । तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । नि-अर्बुदम् । असम्-ख्येयम् । स्वम् । अस्मिन् । नि-विष्टम् ॥ तत् । अस्य । घ्नन्ति । अभि-पश्यतः । एव । तस्मात् । देवः । रोचते । एषः । एतत् ॥२४॥

भाषार्थ—(शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अयुतम्) दस सहस्र, (न्यर्बुदम्) दस करोड़, (असंख्येयम्) बे गिनती (स्वम्) धन (अस्मिन्) इस [परमात्मा] में (निविष्टम्) रक्खा हुआ है । (अस्य) इस (अभिपश्यतः) सब ओर देखते हुये [परमात्मा] के (तत्) उस [धन] को (एव) निश्चय करके वे [सब प्राणी] (घ्नन्ति) पाते हैं, (तस्मात्) उस [कारण] से (एषः) यह (देवः) देव [स्तुतियोग्य परमात्मा] (एतत्) अब (रोचते)

प्रतिदिनम् (स्यात्) (पुनर्णवः) वारं वारं नवीनः (अहोरात्रे) रात्रिदिने (प्र जायेते) उत्पद्येते (अन्योऽन्यस्य) कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम् । इति द्वित्वम् । असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः । वा० पा० ८ । १ । १२ । इति पूर्वपदात् सुपः सुः । परस्परस्य (रूपयोः) स्वरूपयोः सकाशात् ॥

२४—(शतम्) (सहस्रम्) (अयुतम्) दशसहस्रम् (न्यर्बुदम्) दशकोटिसंख्याकम् (असंख्येयम्) अपरिमेयम् (स्वम्) धनम् (अस्मिन्) परमात्मनि (निविष्टम्) स्थापितम् (तत्) धनम् (अस्य) ईश्वरस्य (घ्नन्ति) हन हिंसागत्योः । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (अभिपश्यतः) अवलोकमानस्य (एव) अवश्यम् (तस्मात्) कारणात् (देवः) स्तुत्यः परमात्मा (रोचते) प्रियो भ-

रुचता है [प्रिय लगता है] ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमात्मा के अनन्त कोश से अनन्त प्राणी अपने पुरुषार्थ के अनुसार धन आदि पाकर बलवान् होते हैं, इसी से वह जगदीश्वर सब को सदा प्रिय लगता है ॥ २४ ॥

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

बालात् । एकम् । अणीयः-कम् । उत । एकम् । न-इव । दृश्यते ॥ ततः । परि स्वजीयसी । देवता । सा । मम । प्रिया ॥ २५

भाषार्थ—(एकम्) एक वस्तु (बालात्) बाल [केश] से (अणीयस्कम्) अधिक सूक्ष्म है, (उत) और (एकम्) एक वस्तु (नेव) नहीं भी (दृश्यते) दीखती है । (ततः) उस [बड़ी सूक्ष्म वस्तु] से (परिष्वजीयसी) अधिक चिपटने वाला (सा) वह (देवता) देवता [परमेश्वर] (मम प्रिया) मेरा प्रिय है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो कर प्राणियों के भीतर रम कर उनको बल देता है, इसी से वह सब प्राणियों का प्रिय है ॥ २५ ॥

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

इयम् । कल्याणी । अजरा । मर्त्यस्य । अमृता । गृहे ॥ यस्मै । कृता । शये । सः । यः । चकार । जजार । सः ॥ २६ ॥

वति (एषः) दृश्यमानः (एतत्) इदानीम् ॥

२५—(बालात्) केशात् (एकम्) वस्तुमात्रम् (अणीयस्कम्) अणुतरम् (उत) अपि (एकम्) (नेव) इव अवधारणे । नैव (दृश्यते) अवलोक्यते (ततः) तस्मात् सूक्ष्मवस्तुसकाशात् (परिष्वजीयसी) परि+ष्वञ्ज आलिङ्गने—तृच् , ईयसुन् , ङीप् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः । अधिकतरा परिष्वङ्क्त्री । आलिङ्गनशीला (देवता) देवः परमात्मा (सा) (मम) (प्रिया) हिता ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (कल्याणी) कल्याणी [आनन्दकारिणी, प्रकृति जगत् की सामग्री] (अजरा) अजर, (अमृता) अमर होकर (मर्त्यस्य) मरण धर्मी [मनुष्य] के (गृहे) घर में है। (यस्मै) जिस के लिये [जिस ईश्वर की आज्ञा मानने के लिये] (कृता) वह सिद्ध की गई है, (सः) वह [परमेश्वर, उस प्रकृति में] (शये) सोता है, (यः) जिस ने [उस प्रकृति को] (चकार) सिद्ध किया था, (सः) वह [परमेश्वर] (जजार) स्तुति योग्य हुआ ॥ २६ ॥

भावार्थ—प्रकृति जगत् का कारण प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी के शरीर में है। परमेश्वर ने प्रकृति को अनेक उपकारों के लिये कार्यरूप जगत् में परिणत किया है, वह परामात्मा सब का उपास्य देव है ॥ २६ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि॒ त्वं कु॑मा॒र उ॒त वा॑ कुमा॒री ।
त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्चसि॒ त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः २७

त्वम् । स्त्री । त्वम् । पुमा॑न् । अ॒सि॒ । त्वम् । कु॒मा॒रः । उ॒त । वा॒ । कु॒मा॒री ॥ त्वम् । जी॒र्णः । द॒ण्डेन॑ । व॒ञ्च॒सि॒ । त्वम् । जा॒तः । भ॒व॒सि॒ । वि॒श्वतः॑-मुखः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे जीवात्मा !] (त्वम्) तू (स्त्री) स्त्री, (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुष, (त्वम्) तू (कुमारः) कुमार [लड़का], (उत वा) अथवा (कुमारी) कुमारी [लड़की] (असि) है। (त्वम्) तू (जीर्णः) स्तुति किया

२६—(इयम्) दृश्यमाना प्रकृतिः (कल्याणी) माङ्गलिका (अजरा) जराशून्या। अनिर्बला (मर्त्यस्य) मरणधर्मणो मनुष्यस्य (अमृता) मरणरहिता। पुरुषार्थशीला (गृहे) शरीर इत्यर्थः (यस्मै) परमेश्वराय। तदाज्ञापालनाय (कृता) निष्पादिता (शये) शेते। वर्तते प्रकृतौ (सः) परमेश्वरः (यः) (चकार) कृतवान् प्रकृतिं कार्यरूपेण (जजार) जॄ स्तुतौ—लिट्। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १०। ८। जजरे। स्तुत्यो बभूव (सः) ईश्वरः॥

२७—(त्वम्) हे जीवात्मन् (स्त्री) (त्वम्) (पुमान्) पुरुषः (असि) (त्वम्) (कुमारः) बालकः (उत वा) अथवा (कुमारी) बालिका (त्वम्) (जीर्णः) जॄ स्तुतौ-क्त। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०। ८। स्तुतः

गया [होकर] (दण्डेन) दण्ड [दमन सामर्थ्य] से (वञ्चसि) चलता है, (त्वम्) तू (विश्वतो मुखः) सब ओर मुखवाला [बड़ा चतुर होकर] (जातः) प्रसिद्ध (भवसि) होता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा में कोई लिङ्ग विशेष नहीं है, वैसे ही जीवात्मा में विशेष चिन्ह नहीं है। वह शरीर के सम्बन्ध से स्त्री पुरुष लड़का लड़की आदि होता है और शत्रुओं का दमन करके सब ओर दृष्टि करता हुआ धर्मात्मा होकर स्तुति और कीर्ति पाता है ॥ २७ ॥

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८

उत । एषाम् । पिता । उत । वा । पुत्रः । एषाम् । उत । एषाम् । ज्येष्ठः । उत । वा । कनिष्ठः ॥ एकः । ह । देवः । मनसि । प्र-विष्टः । प्रथमः । जातः । सः । ऊं इति । गर्भे । अन्तः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—यह [जीवात्मा] (एषाम्) इन [प्राणियों] का (उत) अथवा (पिता) पिता, (उत वा) अथवा (एषाम्) इनका (पुत्रः) पुत्र है, (उत) अथवा (एषाम्) इनका (ज्येष्ठः) ज्येष्ठ भ्राता [सब से बड़ा भाई] (उत वा) अथवा (कनिष्ठः) कनिष्ठ भ्राता [सबसे छोटा भाई है] । (एकः ह) एक ही (देवः) देव [सर्वव्यापक परमात्मा] (मनसि) ज्ञान में (प्रविष्टः)

(दण्डेन) अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । दमु उपशमे-ड, यद्वा, दण्ड दण्डनिपातने-अच् । दमनसामर्थ्येन । दण्डदानेन (वञ्चसि) वञ्चु गतौ प्रतरणे च । गच्छसि (त्वम्) (जातः) प्रसिद्धः (विश्वतोमुखः) विश्वेषु कर्मसु मुखं यस्य सः । महाविचक्षणः ।

२८—(उत) अथवा (एषाम्) समीपवर्तिनाम् (पिता) जनकः (पुत्रः) तनयः (एषाम्) (उत) (एषाम्) (ज्येष्ठः) वृद्ध-इष्ठन् । अग्रजो भ्राता (उत वा) (कनिष्ठः) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् । पा० ५ । ३ । ६४ । युवन् अल्प वा-इष्ठनि कनादेशः । अनुजो भ्राता (एकः) अद्वितीयः (ह) एव (देवः)

प्रविष्ट होकर (प्रथमः) सब से पहिले (जातः) प्रसिद्ध हुआ, (सः उ) वही (गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर [प्राणियों के अन्तःकरण में] है ॥ २८ ॥

भावार्थ—नित्य जीवात्मा शरीर के सम्बन्ध से पिता पुत्रादि कहाता है। इस जीवात्मा से भी सूक्ष्म ज्ञानस्वरूप परमात्मा सब में व्यापक है ॥ २८ ॥

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥ २९ ॥

पूर्णात्। पूर्णम्। उत्। अचति। पूर्णम्। पूर्णेन। सिच्यते॥ उतो इति। तत्। अद्य। विद्याम। यतः। तत्। परि-सिच्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(पूर्णात्) पूर्ण [ब्रह्म] से (पूर्णम्) सम्पूर्ण [जगत्] (उत् अचति) उदय होता है। (पूर्णेन) पूर्ण [ब्रह्म] करके (पूर्णम्) संपूर्ण [जगत्] (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) और भी (तत्) उस [कारण] को (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें, (यतः) जिस कारण से (तत्) वह [सम्पूर्ण जगत्] (परिषिच्यते) सब प्रकार सींचा जाता है ॥२९॥

भावार्थ—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। उसी परब्रह्म की उपासना सब लोग करें ॥ २९ ॥

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥ ३०॥ (२८)

सर्वव्यापकः परमात्मा (मनसि) ज्ञाने (प्रविष्टः) (प्रथमः) आदिमः (जातः) प्रसिद्धः (सः) (उ) एव (गर्भे) अन्तःकरणरूपे गर्भाशये (अन्तः) मध्ये ॥

२९—(पूर्णात्) सर्वश्रेष्ठगुणपूरितात् परमात्मनः (पूर्णम्) समग्रं जगत् (उदचति) उदेति (पूर्णम्) समग्रम् (पूर्णेन) परमात्मना (सिच्यते) आर्द्री-क्रियते। वर्ध्यते (उतो) अपि च (तत्) कारणम् (अद्य) अस्मिन् दिने (विद्याम) जानीम (यतः) यस्मात् कारणात् (तत्) पूर्णं जगत् (परिषिच्यते) सर्वतो वर्ध्यते ॥

एषा । सुनत्नी । सनम् । एव । जाता । एषा । पुराणी । परि । सर्वम् । बभूव ॥ मही । देवी । उषसः । वि-भाती । सा । एकेन-एकेन । मिषता । वि । चष्टे ॥ ३० ॥ (२८)

भाषार्थ—(एषा) यह [शक्ति अर्थात् परमेश्वर] (सनम् एव) सदा से ही (सनत्नी) भक्तों की नेत्री [आगे बढ़ाने वाली] (जाता) प्रसिद्ध है, (एषा) इस (पुराणी) पुरानी ने (सर्वम्) सब [जगत्] को (परिबभूव) घेर लिया है। (उषसः) प्रभात वेलाओं को (विभाती) प्रकाशित करने वाली (सा) वह (मही) बड़ी (देवी) देवी [दिव्यशक्ति] (एकेनैकेन) एक एक (मिषता) पलक मारने से [सब को] (वि चष्टे) देखती रहती है॥ ३० ॥

भावार्थ—महान् शक्ति परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वप्रकाशक होकर अपने भक्तों की बढ़ती करता और समस्त संसार की सुधि रखता है ॥ ३० ॥

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥

अविः । वै । नाम । देवता । ऋतेन । आस्ते । परि-वृता ॥ तस्याः । रूपेण । इमे । वृक्षाः । हरिताः । हरित-स्रजः ॥३१॥

भाषार्थ—(अविः) रक्षक (वै) ही (नाम) नाम (देवता) देवता [दिव्य शक्ति, परमात्मा] (ऋतेन) सत्यज्ञान से (परिवृता) घिरा हुआ

३०—(एषा) प्रसिद्धा (सनत्नी) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज० । उ० २ । ८४ । षण संभक्तौ—अति+णीञ् प्रापणे ड, ङीप् । सनतां भक्तानां नेत्री (सनम्) सदा (एव) (जाता) प्रसिद्धा (एषा) (पुराणी) अ० १० । ७ । २६ । पुराण ङीप् । पुरातनी (सर्वम्) जगत् (परि बभूव) व्याप (मही) महती (देवी) दिव्यगुणा (उषसः) प्रभातवेलाः (विभाती) अन्तर्गतण्यर्थः । विभापयन्ती । प्रकाशयन्ती (सा) शक्तिः (एकेनैकेन) प्रत्येकेन (मिषता) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज० । उ० २ । ८४ । मिष स्पर्धायाम्-अति । निमिषेण । चक्षुर्भुद्रणेन (वि चष्टे) विशेषेण पश्यति ॥

३१—(अविः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अव रक्षणादिषु-इन् ।

(आस्ते) स्थित है। (तस्याः) उस [देवता] के (रूपेण) रूप [स्वभाव] से (इमे) यह (हरिताः) हरे (वृक्षाः) वृक्ष (हरितस्रजः) दाख [समान फलों] की माला वाले हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप परमात्मा सर्वरक्षक प्रसिद्ध है इसी की दया से यह हरे हरे वृक्ष आदि प्राणियों को फल आदि से सुखदायक होते हैं ॥३१॥

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

अन्ति। सन्तम्। न। जहाति। अन्ति। सन्तम्। न। पश्यति॥ देवस्य। पश्य। काव्यम्। न। ममार। न। जीर्यति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—[जो विद्वान्] (अन्ति) समीप में (सन्तम्) वर्तमान [देव परमात्मा] को (न) नहीं (जहाति) छोड़ता है और (अन्ति) समीप में (सन्तम्) वर्तमान (न) जैसे [उसको] (पश्यति) देखता है। (देवस्य) देव [दिव्यगुण वाले परमात्मा] की (काव्यम्) बुद्धिमत्ता (पश्य) देख—वह [विद्वान्] (न ममार) न तो मरा और (न जीर्यति) न जीर्ण [निर्बल] होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् दृढ़ चित्तसे परमात्मा को प्रत्यक्ष जानता है, वह कभी दुःखी नहीं होता, उसका आत्मबल सदा बढ़ता रहता है—यह ईश्वर नियम है ॥ ३२ ॥

रक्षिका (वै) एव (नाम) संज्ञा (देवता) दिव्यगुणा शक्तिः परमेश्वरः (ऋतेन) सत्यज्ञानेन (आस्ते) तिष्ठति (परिवृता) आच्छादिता (तस्याः) देवतायाः (रूपेण) स्वभावेन (इमे) दृश्यमानाः (वृक्षाः) तरवः (हरिताः) हरितवर्णाः (हरितस्रजः) हरिता कपिलद्राक्षा-इति शब्दकल्पद्रुमः, हरित एव हरिता। द्राक्षावत् फलानां स्रजो मालाः सन्ति येषां ते ॥

३२—(अन्ति) अन्तिके। समीपे (सन्तम्) वर्तमानम् (न) निषेधे (जहाति) त्यजति यो विद्वान् (अन्ति) (सन्तम्) (न) इव (पश्यति) अवलोकते (देवस्य) परमेश्वरस्य (पश्य) (काव्यम्) कवि-ष्यञ्। कविकर्म। मेधावित्वम् (न) निषेधे (ममार) मृत्युं प्राप (न) निषेधे (जीर्यति) जॄ वयोहानौ। जीर्णो निर्बलो भवति ॥

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

अपूर्वेण। इषिताः। वाचः। ताः। वदन्ति। यथा-यथम् ॥ वदन्तीः। यत्र। गच्छन्ति। तत्। आहुः। ब्राह्मणम्। महत् ३३

भाषार्थ—(अपूर्वेण) अपूर्व [कारण रहित परमात्मा करके] (इषिताः) भेजी हुई (ताः) वे (वाचः) वाचायें (यथायथम्) जैसे का तैसा (वदन्ति) बोलती हैं। (वदन्तीः) बोलती हुई वे [वाचायें] (यत्र) जहां (गच्छन्ति) पहुंचती हैं। (तत्) उसको (महत्) बड़ा (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—कारणशून्य परमात्मा ने वेद द्वारा सत्य धर्म का उपदेश किया है, और वे वेदवाणी परमात्मा का ही यथावत् ज्ञान जनाती हैं ॥ ३३ ॥

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

यत्र। देवाः। च। मनुष्याः। च। अराः। नाभौ-इव। श्रिताः ॥ अपाम्। त्वा। पुष्पम्। पृच्छामि। यत्र। तत्। मायया। हितम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [तन्मात्राओं के विकाश] में (देवाः) दिव्य लोक वा पदार्थ (च) और (मनुष्याः) मनुष्य (च) भी (श्रिताः) आश्रित हैं, (इव) जैसे (नाभौ) [पहिये की] नाभि में (अराः) अरे [लगे होते हैं]।

३३—(अपूर्वेण) कारणशून्येन परमात्मना (इषिताः) प्रेरिताः (वाचः) वेदवाण्यः (ताः) प्रसिद्धाः (वदन्ति) कथयन्ति (यथायथम्) यथार्थम् (वदन्तीः) ज्ञापयन्तीः (यत्र) (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति (तत्) (आहुः) ब्रुवन्ति (ब्राह्मणम्) म० २०। ब्रह्मज्ञानम् (महत्) बहु ॥

३४—(यत्र) यस्मिन् पुष्पे (देवाः) दिव्यलोकाः पदार्था वा (च) (मनुष्याः) (च) (अराः) चक्रस्य नाभिनेम्योर्मध्यस्थानि काष्ठानि (नाभौ) चक्रमध्ये (इव) यथा (श्रिताः) स्थिताः (अपाम्) आपः=व्यापिकास्त-

[हे विद्वान् !] (त्वा) तुझ से (अपाम्) व्यापक तन्मात्राओं के (पुष्पम्) पुष्प [फूल, विकाश] को (पृच्छामि) पूछता हूं, (यत्र) जिस [विकाश] में (तत्) वह ब्रह्म (मायया) बुद्धि के साथ (हितम्) स्थित है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस ब्रह्म का निश्चय करे जो अन्तर्यामी होकर व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में चेष्टा देकर संयोग द्वारा स्थूल लोक और मनुष्य आदि के शरीर रचता है ॥ ३४ ॥

येभिर्वात॑ इषि॒तः प्र॒वाति॒ ये दद॑न्ते॒ पञ्च॒ दिशः॑ स॒ध्रीचीः॑ । य आहु॑तिम॒त्यम॑न्यन्त दे॒वा अ॒पां ने॒तारः॑ कत॒मे त आ॑सन् ॥३५॥

येभिः॑ । वातः॑ । इ॒षि॒तः । प्र॒ऽवाति॑ । ये । दद॑न्ते । पञ्च॑ । दिशः॑ । स॒ध्रीचीः॑ ॥ ये । आऽहु॑तिम् । अ॒ति॒ऽअम॑न्यन्त । दे॒वाः । अ॒पाम् । ने॒तारः॑ । क॒त॒मे । ते । आ॒स॒न् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(येभिः) जिन [संयोग वियोग आदि दिव्य गुणों] करके (इषितः) प्रेरा गया (वातः) वायु (प्रवाति) चलता रहता है, (ये) जो दिव्य गुण (सध्रीचीः) आपस में मिली हुई, (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्त्वों से सम्बन्ध वाली] (दिशः) दिशाओं का (ददन्ते) दान करते हैं । (ये) जिन (देवाः) देवों [संयोग, वियोग आदि दिव्यगुणों] ने (आहुतिम्) आहुति [दान क्रिया, उपकार] को (अत्यमन्यन्त)

न्मात्राः—दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ । व्यापिकानां तन्मात्राणाम् (त्वा) विद्वांसम् (पुष्पम्) पुष्प विकाशे—अच् । विकाशम् । प्रादुर्भावम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (यत्र) यस्मिन् पुष्पे (तत्) प्रसिद्धं ब्रह्म (मायया) प्रज्ञया—निघ० ३ । ६ (हितम्) धृतम् ॥

३५—(येभिः) यैः संयोगवियोगादिदिव्यगुणैः (वातः) वायुः (इषितः) प्रेरितः (प्रवाति) प्रगच्छति (ये) देवाः (ददन्ते) दद दाने । ददति (पञ्च) पृथिव्यादिपञ्चभूतैः संबद्धाः (दिशः) पूर्वादयः (सध्रीचीः) अ० ६ । ८८ । ३ । सह वर्तमानाः (ये) (आहुतिम्) दानक्रियाम् (अत्यमन्यन्त) अतिशयेन स्वीकृतवन्तः (देवाः) संयोगवियोगादयो दिव्यगुणाः (अपाम्) प्रजानाम् । सृष्टपदार्थानाम् । आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (नेतारः) संचा-

अतिशय करके माना [स्वीकार किया] था, (ते) वे (अपाम्) प्रजाओं के (नेतारः) नेता [संचालक दिव्य गुण] (कतमे) कौन से (आसन्) थे ॥३५॥

भावार्थ—विवेकी को विचारना चाहिये कि किन गुणों से वायु ऊपर नीचे चलता है, सब दिशाओं में पृथिवी आदि तत्त्व कैसे स्थित हैं, किस गुण से क्या उपकार होता है जिससे यह पृथिवी ठहरी है ॥ ३५ ॥

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव । दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

इमाम् । एषाम् । पृथिवीम् । वस्ते । एकः । अन्तरिक्षम् । परि । एकः । बभूव ॥ दिवम् । एषाम् । ददते । यः । वि-धर्ता । विश्वाः । आशाः । प्रति । रक्षन्ति । एके ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [दिव्य पदार्थों] में से (एकः) एक [जैसे अग्नि] (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी को (वस्ते) ढकता है, (एकः) एक [जैसे वायु] ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [मध्यलोक] को (परि बभूव) घेर लिया है । (येषाम्) इन में (यः) जो (विधर्ता) विविध प्रकार धारण करने वाला है [जैसे वायु], वह (दिवम्) प्रकाश को (ददते) देता है, (एकः) कोई एक [दिव्य पदार्थ] (विश्वाः) सब (आशाः प्रति) दिशाओं में (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है । यद्यपि विशेष करके अग्नि पृथिवी का, वायु अन्तरिक्ष का और सूर्य प्रकाश का रक्षक है । तथापि यह अन्य सब चन्द्र नक्षत्र आदि लोकों के परस्पर रक्षक हैं ॥ ३६ ॥

भगवान् यास्कमुनि ने निरु० ७ । ५ । में लिखा है—"निरुक्त ज्ञाता मानते हैं

लकाः (कतमे) बहूनां मध्ये के (ते) (आसन्) ॥

३६—(इमाम्) दृश्यमानाम् (एषाम्) दिव्यपदार्थानां मध्ये (वस्ते) आच्छादयति (एकः) अग्निर्यथा (अन्तरिक्षम् (एकः) वायुर्यथा (परि बभूव) आच्छादितवान् (दिवम्) प्रकाशम् (एषाम्) (ददते) दद दाने । ददाति (यः) (विधर्ता) विविधं धारकः सूर्यो यथा (आशाः) पूर्वादयो दिशाः (प्रति) लक्ष्यीकृत्य (रक्षन्ति) (एके) अन्ये । चन्द्रनक्षत्रादयः ॥

कि तीन ही देवता हैं, अग्नि पृथिवी स्थानी, वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानी, सूर्य द्युस्थानी। उनकी बड़ी महिमा के कारण एक एक के बहुत नाम होते हैं। अथवा कर्म के अलग अलग होने से जैसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता यह एक के होने से [एक ही के बहुत नाम हैं] अथवा वे अलग अलग होवें, क्यों कि [उनकी] अलग अलग स्तुतियां हैं, वैसे ही [अलग अलग] नाम हैं" ॥

यो विद्यात् सूत्रं वितंतं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

यः। विद्यात्। सूत्रम्। वि-ततम्। यस्मिन्। आ-उताः। प्र-जाः। इमाः॥ सूत्रम्। सूत्रस्य। यः। विद्यात्। सः। विद्यात्॥ ब्राह्मणम्। महत् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [विवेकी] (विततम्) फैलेहुये (सूत्रम्) सूत्र [तागे समान कारण] को (विद्यात्) जान लेवे, (यस्मिन्) जिस सूत वा कारण में (इमाः) यह (प्रजाः) प्रजायें [कार्य रूप] (ओताः) ओत प्रोत हैं। (यः) जो [विवेकी] (सूत्रस्य) सूत्र [कारण] के (सूत्रम्) सूत्र [कारण] को (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्म-ज्ञान] को (विद्यात्) जान लेवे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कार्यरूप जगत् के कारण प्रकृति आदि को, और कारण के आदि कारण परमात्मा को जानकर ब्रह्मज्ञानी होता है ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद मन्त्र २० में आया है ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

३७—(यः) विवेकी (विद्यात्) जानीयात् (सूत्रम्) सिविमुच्योष्टेरू च। उ० ४। १६३। षिवु तन्तुसन्ताने—ष्ट्रन् टेः ऊ च, यद्वा, सूत्र वेष्टने—अच्। कारणरूपं तन्तुम् (विततम्) विस्तृतम् (यस्मिन्) सूत्रे (ओताः) आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त। परस्परस्यूताः (प्रजाः) सृष्टाः पदार्थाः (इमाः) दृश्यमानाः (सूत्रम्) तन्तुरूपं कारणम् (सूत्रस्य) तन्तुरूपस्य कारणस्य (यः) (विद्यात्) (सः) (विद्यात्) (ब्राह्मणम्) म० २० । ब्रह्मज्ञानम् (महत्) बृहत् ॥

वेद । अहम् । सूत्रम् । वि-ततम् । यस्मिन् । आ-उताः । प्र-जाः । इमाः ॥ सूत्रम् । सूत्रस्य । अहम् । वेद । अथो इति । यत् । ब्राह्मणम् । महत् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (विततम्) फैले हुये (सूत्रम्) सूत्र [तागे समान कारण] को (वेद) जानता हूं, (यस्मिन्) जिस [सूत्र वा कारण] में (इमाः) ये (प्रजाः) प्रजायें (ओताः) ओत प्रोत हैं । (अथो) और भी (अहम्) मैं (सूत्रस्य) सूत्र [कारण] के (सूत्रम्) सूत्र [कारण] को (वेद) जानता हूं, (यत्) जो (महत्) बड़ा (ब्राह्मणम्) ब्रह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य कार्य, कारण, और आदि कारण ब्रह्म को साक्षात् करके ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे ॥ ३८ ॥

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः । यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ ३९ ॥

यत् । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । अग्निः । ऐत् । प्र-दहन् । विश्व-दाव्यः ॥ यत्र । अतिष्ठन् । एक-पत्नीः । परस्तात् । क्व-इव । आसीत् । मातरिश्वा । तदानीम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (द्यावापृथिवी अन्तरा) सूर्य और पृथिवी के बीच (प्रदहन्) दहकता हुआ (विश्वदाव्यः) सब का जलाने वाला (अग्निः) अग्नि (ऐत्) प्राप्त हुआ । (यत्र) जहां [सूर्य और पृथिवी के बीच] (एकपत्नीः) एक [सूर्य] को पति [रक्षक वा स्वामी] रखने वाली [दिशायें]

३८—(वेद) जानामि (अहम्) विवेकी (अथो) अपि च । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३७ ॥

३९—(यत्) यदा (अन्तरा) मध्ये (द्यावा पृथिवी) सूर्यभूलोकौ (अग्निः) अग्नितत्त्वम् (ऐत्) अगच्छत् (प्रदहन्) दहनं कुर्वन् (विश्वदाव्यः) विश्व+टु दु उपतापे—ण्यत् कर्तरि । सर्वदाहकः (यत्र) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (अतिष्ठन्) (एकपत्नीः) नित्यं सपत्न्यादिषु । पा० ४ । १ । ३५ । एकपति-ङीप् नुक् च । एकः सूर्यः पतिः पालकः स्वामी वा यासां ताः पूर्वादिदिशाः (पर-

(परस्तात्) दूर तक (अतिष्ठन्) ठहरी थीं, (तदानीम्) तब (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु वा सूत्रात्मा] (क) कहां (इव) निश्चय कर के (आसीत्) था ॥ ३९ ॥

भावार्थ—विद्वान् विचार करे कि संसार के बीच प्रलय समय में अग्नि तत्त्व के साथ वायुतत्त्व वा सूत्रात्मा कहां था ॥ ३९ ॥

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् । बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥ ४० ॥

अप्-सु । आसीत् । मातरिश्वा । प्र-विष्टः । प्र-विष्टाः । देवाः । सलिलानि । आसन् ॥ बृहन् । ह । तस्थौ । रजसः । वि-मानः । पवमानः । हरितः । आ । विवेश ॥ ४० ॥

भाषार्थ—(मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु वा सूत्रात्मा] (अप्सु) अन्तरिक्ष [वा तन्मात्राओं] में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुये (आसीत्) था, (देवाः) [अन्य] दिव्य पदार्थ (सलिलानि) समुद्रों में [अगम्य कारणों में] (प्रविष्टाः) प्रवेश किये हुये (आसन्) थे । (रजसः) संसार का (बृहन् ह) बड़ा ही (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला [वा विमान रूप आधार, परमेश्वर] (तस्थौ) खड़ा था और (पवमानः) शुद्धि करने वाले [परमेश्वर] ने (हरितः) सब दिशाओं में (आ विवेश) प्रवेश किया था ॥ ४० ॥

भावार्थ—प्रलय में वायु और अन्य सब पदार्थ अपने अपने कारणों में लीन थे, उस समय एक ही परमेश्वर का अनुभव होता था ॥ ४० ॥

मन्त्र का तीसरा पाद ऊपर मन्त्र ३ में आया है ॥

स्तात्) दूरदेशे (क) कुत्र (इव) एव (आसीत्) (मातरिश्वा) अ० ५ । १० । ८ । मातरि मानकर्तरि आकाशे गमनशीलो वायुः सूत्रात्मा वा (तदानीम्) ॥

४०—(अप्सु) म० ३५ । अन्तरिक्षे तन्मात्रासु वा (आसीत्) (मातरिश्वा) म० ३९ । वायुः सूत्रात्मा वा (प्रविष्टः) (प्रविष्टाः) (देवाः) अन्ये दिव्यपदार्थाः (सलिलानि) समुद्रान् । अगम्यकारणानि (आसन्) (बृहन्) महान् (ह) एव (तस्थौ) स्थितवान् (रजसः) लोकस्य (विमानः) विशेषेण मानकर्ता । विमानतुल्याधारः परमेश्वरः (पवमानः) संशोधकः परमात्मा (हरितः) पूर्वादिदिशाः-निघ० १ । ६ (आ विवेश) प्रविष्टवान् ॥

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे । साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व ॥ ४१ ॥

उत्तरेण-इव । गायत्रीम् । अमृते । अधि । वि । चक्रमे ॥ साम्ना । ये । साम । सम्-विदुः । अजः । तत् । ददृशे । क्व ॥४१॥

भाषार्थ—(उत्तरेण) उत्तम गुण से (इव=एव) ही (अमृते) अमृत [मोक्ष सुख] में (अधि) अधिकार करके वह परमेश्वर (गायत्रीम्) गायत्री [स्तुति] की ओर (वि) विविध प्रकार (चक्रमे) आगे बढ़ा । (ये) जो [विद्वान्] (साम्ना) मोक्षज्ञान [के अभ्यास] से (साम) मोक्षज्ञान को (संविदुः) यथावत् जानते हैं [वे मानते हैं कि] (अजः) अजन्मा [परमेश्वर] (तत्) तब [मोक्ष सुख पाता हुआ] (क्व) कहां (ददृशे) देखा गया ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मोक्षस्वरूप परमात्मा ही अपने अनुपम श्रेष्ठ गुणों से स्तुति योग्य है । उस मोक्ष दशा का अनुभव ब्रह्मज्ञानी ही कर सकते हैं ॥ ४१ ॥

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा । इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ४२ ॥

नि-वेशनः । सम्-गमनः । वसूनाम् । देवः-इव । सविता । सत्य-धर्मा ॥ इन्द्रः । न । तस्थौ । सम्-अरे । धनानाम् ॥४२॥

भाषार्थ—(वसूनाम्) निवासों [पृथिवी आदि लोकों] का (निवेशनः) ठहराने वाला और (संगमनः) चलाने वाला, (सत्यधर्मा) सत्य धर्म

४१—(उत्तरेण) उत्कृष्टेन गुणेन (इव) एव (गायत्रीम्) अ० ६ । १० । १ । गै गाने—अत्रन् णित्, युक् ङीप् च । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । स्तुतिम् (अमृते) मोक्षसुखे (अधि) अधिकृत्य (वि) विशेषेण (चक्रमे) प्रजगाम । प्राप (साम्ना) अ० ७ । ५४ । १ । मोक्षज्ञानाभ्यासेन (ये) विद्वांसः (साम) मोक्षज्ञानम् (संविदुः) सम्यग् जानन्ति । त एव विदुः—इति शेषः (अजः) अजन्मा (तत्) तदा (ददृशे) दृष्टः (क्व) कुत्र ॥

४२—(निवेशनः) निवेशयिता । स्थापयिता (संगमनः) संगमयिता । संचालकः (वसूनाम्) निवासानां पृथिव्यादिलोकानाम् (देवः) देदीप्यमानः

वाला [परमेश्वर] (धनानाम्) धनों के लिये [हमारे] (समरे) संग्राम में (देवः) प्रकाशमान (सविता इव) चलाने वाले सूर्य के समान और (इन्द्रः न) वायु के समान (तस्थौ) स्थित हुआ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—हम लोग सङ्ग्राम अर्थात् कठिनाई के समय सत्यस्वभाव, सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर का ध्यान करते हुये सूर्य समान प्रतापी और वायु समान शीघ्रगामी होकर यथावत् प्रयत्न करें ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद १० । १३६ । ३ और यजु० १२ । ६६ में है ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

पुण्डरीकम् । नव-द्वारम् । त्रि-भिः । गुणेभिः । आ-वृतम् ॥ तस्मिन् । यत् । यक्षम् । आत्मन्-वत् । तत् । वै । ब्रह्म-विदः । विदुः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(नवद्वारम्) [सात शिर के और दो नीचे के छिद्र] नव द्वार वाला (पुण्डरीकम्) पुण्य का साधन [यह शरीर] (त्रिभिः) तीन [रज, तम और सत्त्व] (गुणेभिः) गुणों से (आवृतम्) ढका हुआ है । (तस्मिन्) उस [शरीर] में (आत्मन्वत्) जीवात्मा का स्वामी (यत्) जो (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] है, (तत्) उसको (वै) ही (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं ॥ ४३ ॥

(इव) यथा (सविता) लोकप्रेरकः सूर्यः (सत्यधर्मा) यथार्थन्यायः । अवितथाचारः । अविकृतस्वभावः (इन्द्रः) वायुः (न) इव (तस्थौ) स्थितवान् (समरे) सङ्ग्रामे (धनानाम्) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । धनानां प्राप्तये ॥

४३—(पुण्डरीकम्) फर्फरीकादयश्च । उ० ४ । २० । पुण धर्मकर्मणि शुद्धौ च—ईकन्, निपातनात् साधुः । पुण्यसाधनं शरीरम् । कमलपुष्पम् (नवद्वारम्) अ० १० । २ । ३१ । पायूपस्थसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैर्युक्तम् (त्रिभिः) (गुणेभिः) सत्त्वरजस्तमोगुणैः (आवृतम्) आच्छादितम् (तस्मिन्) शरीरे (यत्) (यक्षम्) पूजनीयं ब्रह्म (आत्मन्वत्) जीवात्माधिष्ठातृ (तत्) ब्रह्म (वै) एव (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर, कान, नाक आदि इन्द्रियों, तीनों गुणों, जीवात्मा और परमात्मा के यथावत् ज्ञान से ब्रह्मज्ञानी होते हैं ॥ ४३ ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ४४(२८)

अकामः । धीरः । अमृतः । स्वयम्-भूः । रसेन । तृप्तः । न । कुतः । चन । ऊनः ॥ तम् । एव । विद्वान् । न । बिभाय । मृत्योः । आत्मानम् । धीरम् । अजरम् । युवानम् ॥४४॥ (२८)

भाषार्थ—(अकामः) निष्काम, (धीरः) धीर [धैर्यवान्] (अमृतः) अमर, (स्वयंभूः) अपने आप वर्तमान वा उत्पन्न, (रसेन) रस [वीर्य वा पराक्रम] से (तृप्तः) तृप्त अर्थात् परिपूर्ण [परमात्मा] (कुतः चन) कहीं से भी (ऊनः) न्यून (न) नहीं है । (तम् एव) उस ही (धीरम्) धीर [बुद्धिमान्], (अजरम्) अजर [अक्षय], (युवानम्) युवा [महाबली] (आत्मानम्) आत्मा [परमात्मा] को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु [मरण वा दुःख] से (न) नहीं (विभाय) डरा है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निष्काम, बुद्धिमान्, धैर्यवान् आदि गुण विशिष्ट परमात्मा को जान लेते हैं, वे परोपकारी धीर वीर पुरुष मृत्यु वा विपत्ति से निर्भय होकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

४४—(अकामः) निष्कामः । स्वप्रयोजनत्यागी (धीरः) अ० २ । ३५ । ३ । धीरो धीमान्—निरु० ३ । १२ । धीराः प्रज्ञावन्तो ध्यानवन्तः—निरु० ४ । १० । धैर्यवान् । मेधावी (अमृतः) अमरः (स्वयम्भूः) स्वयम्+भू–क्विप् । स्वयं वर्तमानः । स्वयमुत्पन्नः (रसेन) वीर्येण । पराक्रमेण (तृप्तः) सन्तुष्टः । परिपूर्णः (न) निषेधे (कुतः) (चन) अपि (ऊनः) हीनः (तम्) (एव) (विद्वान्) जानन् पुरुषः (न) निषेधे (बिभाय) भयं प्राप (मृत्योः) मरणात् (आत्मानम्) परमात्मानम् (धीरम्) धीमन्तम् (अजरम्) अक्षयम् (युवानम्) महाबलिनम् ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ९ ॥

१–२७ ॥ शतौदना देवता ॥ १ भुरिक् त्रिष्टुप्; २—११, १३—१७, १९, २१–२५ अनुष्टुप्; १२ निचृत् पथ्यापङ्क्तिः; १८, २० निचृदनुष्टुप्; २६ आर्षी जगती, २७ शक्वरी छन्दः ॥

वेदवाणीमहिमोपदेशः—वेदवाणी की महिमा का उपदेश ॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्। इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥ १ ॥

अघ-यताम्। अपि। नह्य। मुखानि। स-पत्नेषु। वज्रम्। अर्पय। एतम् ॥ इन्द्रेण। दत्ता। प्रथमा। शत-ओदना। भ्रातृव्य-घ्नी। यजमानस्य। गातुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी!] (अघायताम्) बुरा चीतने वालों के (मुखानि) मुखों को (अपि नह्य) बांध दे, (सपत्नेषु) वैरियों पर (एतम् वज्रम्) इस वज्र को (अर्पय) छोड़। [तू] (इन्द्रेण) परमेश्वर करके (दत्ता) दी हुई, (प्रथमा) पहिली (शतौदना) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] (भ्रातृव्यघ्नी) शत्रु को नाश करने वाली (यजमानस्य) यजमान [श्रेष्ठकर्म करने वाले] का (गातुः) मार्ग [है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिस सर्वहितकारिणी वेदवाणी को परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में दिया है, उस के द्वारा सुशिक्षित होकर अपने व्यवहारों को सुधारें ॥ १ ॥

१—(अघायताम्) अ० १० । ४ । १० । अघमिच्छताम् (अपि) सर्वथा (नह्य) सांहितिको दीर्घः । बधान (मुखानि) (सपत्नेषु) शत्रुषु (वज्रम्) (अर्पय) क्षिप (एतम्) (इन्द्रेण) परमेश्वरेण (दत्ता) आविष्कृता (प्रथमा) सृष्ट्यादौ जाता (शतौदना) उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । शत + उन्दी क्लेदने युच्, टाप् । ओदनो मेघः—निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्—निरु० ६ । ३४ । शतप्रकारेण ओदनः सेचनं यस्याः सा वेदवाणी (भ्रातृव्यघ्नी) शत्रुनाशनी (यजमानस्य) श्रेष्ठकर्मकर्तुः (गातुः) अ० २ । ३४ । २ । गाङ् गतौ–तु । मार्गः ॥

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते । एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥ २ ॥

वेदिः । ते । चर्म । भवतु । बर्हिः । लोमानि । यानि । ते ॥ एषा । त्वा । रशना । अग्रभीत् । ग्रावा । त्वा । एषः । अधि । नृत्यतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (चर्म) [मेरा] चर्म (ते) तेरे लिये (वेदिः) वेदि [यज्ञभूमि] (भवतु) होवे, [मेरे] (यानि लोमानि) जो लोम हैं [वे] (ते) तेरे लिये (बर्हिः) यज्ञासन [होवें] । (एषा) [मेरी] इस (रशना) जीभ ने (त्वा) तुझे (अग्रभीत्) ग्रहण किया है, (एषः) यह (ग्रावा) शास्त्रों का उपदेशक [विद्वान्] (त्वा) तुझ को (अधि) अधिकारी करके (नृत्यतु) अङ्गों को हिलावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्या के लिये अपने चर्म अर्थात् शरीर को वेदि समान और अपने रोमों को कम्बल आदि आसन तुल्य बनावे अर्थात् अपने अङ्ग अङ्ग में और रोम रोम में वेदवाणी को व्यापक जाने और जिह्वा से अभ्यास करके संसार में विविध चेष्टा करे ॥ २ ॥

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये । शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ३ ॥

बालाः । ते । प्र-उक्षणीः । सन्तु । जिह्वा । सम् । मार्ष्टु ।

२—(वेदिः) परिस्कृता यज्ञभूमिः (ते) तुभ्यम् (चर्म) मम शरीरम् (भवतु) (बर्हिः) कम्बलकुशाद्यासनम् (लोमानि) रोमाणि (यानि) (ते) तुभ्यम्, तानीतिशेषः (एषा) दृश्यमाना (त्वा) त्वाम् (रशना) अशेरशच् । उ० २ । ७५ । अशू व्याप्तौ-युच्, टाप् । रशादेशश्च धातोः । जिह्वा-इति शब्दकल्पद्रुमः । रशनाः, अङ्गुलिनाम-निघ० २ । ५ (अग्रभीत्) गृहीतवती (ग्रावा) अ० ३ । १० । ५ । गॄ विज्ञापे-कनिप् । शास्त्रविज्ञापकः । पण्डितः । ग्रावाणः पदनाम-निघ० ५ । ३ (त्वा) (एषः) (अधि) अधिकृत्य (नृत्यतु) अङ्गानि विक्षिपतु ॥

अ॒घ्न्ये॒ ॥ शु॒द्धा । त्वम् । य॒ज्ञिया॑ । भू॒त्वा । दिव॑म् । प्र । इ॒हि॒ । श॒त-ओ॒द॒ने॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे न मारने वाली शक्ति ! [वेदवाणी] (ते) तेरी (प्रोक्षणीः) शोधन शक्तियां [मेरे लिये] (बालाः) बाल [कूची समान] (सन्तु) होवें, [मेरी] (जिह्वा) जीभ (सम्) यथावत् (मार्ष्टु) शुद्ध होवे। (शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! [वेदवाणी] (त्वम्) तू (शुद्धा) शुद्ध और (यज्ञिया) यज्ञ योग्य (भूत्वा) होकर (दिवम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा रक्षा और वृद्धि करने हारी वेदवाणी द्वारा सत्य भाषण आदि से शुद्ध हो कर वेदविद्या का प्रकाश करे ॥ ३ ॥

यः श॒तौद॑नां पच॑ति काम॒प्रेण॒ स क॑ल्पते । प्री॒ता ह्य॑स्य॒र्त्विजः॒ सर्वे॒ यन्ति यथाय॒थम् ॥ ४ ॥

यः । श॒त-ओ॑दनाम् । पच॑ति । का॒म॒-प्रेण॑ । सः । क॒ल्प॒ते॒ ॥ प्री॒ताः । हि । अ॒स्य॒ । ऋ॒त्विजः॑ । सर्वे॑ । यन्ति । य॒था-य॒थम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (पचति) पक्का [दृढ़] करता है, (सः) वह (कामप्रेण) कामनायें पूर्ण करने हारे व्यवहार से (कल्पते) समर्थ होता है। (हि)

३—(बालाः) केशाः। कूर्चिका यथा (ते) तव (प्रोक्षणीः) शोधनशक्तयः (सन्तु) (जिह्वा) (सम्) सम्यक् (मार्ष्टु) शुध्यतु (अघ्न्ये) अ० ७। ३। ८। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। नञ्+हन हिंसागत्योः-यक्, उपधालोपः, टाप्। अघ्न्यः प्रजापतिः। हे अहिंसिके रक्षिके वेदविद्ये (शुद्धा) पवित्रा (त्वम्) (यज्ञिया) यज्ञार्हा (भूत्वा) (दिवम्) प्रकाशम् (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (शतौदने) म० १। शतप्रकारेण सेचिके ॥

४—(यः) (शतौदनाम्) बहुप्रकारसेचिकां वेदवाणीम् (पचति) पक्वां दृढां करोति (कामप्रेण) काम+प्रा पूरणे—क। शुभमनोरथपूरकेण व्यवहारेण (सः) (कल्पते) समर्थो भवति (प्रीताः) सन्तुष्टाः (हि) यस्मात् कारणात् (अस्य) पुरुषस्य (ऋत्विजः) अ० ६। २। १। ऋतु+यजेः

क्योंकि (अस्य) इस [मनुष्य] के (सर्वे) सब (ऋत्विजः) ऋत्विक् लोग [ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाले] (प्रीताः) सन्तुष्ट हो कर (यथायथम्) जैसे का तैसा (यन्ति) पाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदविद्या को हृदय में दृढ़ करके व्यवहार करता है, वह अपनी शुभ कामनायें सिद्ध करके सब यज्ञ कर्ताओं को प्रसन्न रखता है ॥४॥

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः । अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

सः । स्वः-गम् । आ । रोहति । यत्र । अदः । त्रि-दिवम् । दिवः ॥ अपूप-नाभिम् । कृत्वा । यः । ददाति । शत-ओदनाम् ॥५

भाषार्थ—(सः) वह [पुरुष] (स्वर्गम्) स्वर्ग [सुख विशेष] को (आ रोहति) ऊंचा होकर पाता है, (यत्र) जहां पर (दिवः) विजय के (अदः) उस (त्रिदिवम्) तीन [आय, व्यय, वृद्धि] के व्यवहार का स्थान है। (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (अपूपनाभिम्) अक्षीणबन्धु (कृत्वा) बनाकर (ददाति) दान करता है ॥५॥

भावार्थ—जहां पर विद्या के लाभ, दान और वृद्धि का व्यवहार है, और जो मनुष्य पूर्ण हितकारिणी वेदवाणी का प्रचार करते हैं, वे उन्नति करके सुख विशेष पाते हैं ॥ ५ ॥

क्विन्। ऋतौ ऋतौ याजकाः (सर्वे) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (यथायथम्) यथायोग्यम् ॥

५—(सः) पुरुषः (स्वर्गम्) सुखविशेषम् (आरोहति) उन्नत्या प्राप्नोति (यत्र) यस्मिन् स्वर्गे (अदः) तत् । प्रसिद्धम् (त्रिदिवम्) अ० ६ । ५ । १० । त्रि+दिवु व्यवहारे-क । त्रयाणां दिवानामायव्ययवृद्धिव्यवहाराणां स्थानम् (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्-डिवि । विजयस्य (अपूपनाभिम्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ् पूयी विशरणे दुर्गन्धे च-पप्रत्ययः, यलोपः नहोभश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने-इञ्, नस्य भः । अपूपमविशीर्णम् अक्षीणं नाभिं बन्धुम (कृत्वा) मत्वा (यः) (ददाति) प्रयच्छति (शतौदनाम्) म० १ । बहुप्रकारसेचिकां वेदवाणीम् ॥

स ताँल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः। हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

सः। तान्। लोकान्। सम्। आप्नोति। ये। दिव्याः। ये। च। पार्थिवाः ॥ हिरण्य-ज्योतिषम्। कृत्वा। यः। ददाति। शत-ओदनाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [मनुष्य] (तान्) उन (लोकान्) दर्शनीय लोगों [जनों] को (सम्) यथावत् (आप्नोति) पाता है, (ये) जो [लोग] (दिव्याः) व्यवहार जानने वाले (च) और (ये) जो (पार्थिवाः) चक्रवर्ती राजा हैं। (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (हिरण्यज्योतिषम्) सुवर्ण [वा वीर्य अर्थात् पराक्रम] को प्रकाश करने वाली (कृत्वा) करके (ददाति) दान करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदद्वारा धनी और पराक्रमी होते हैं, वे व्यवहार कुशल और सार्वभौम राजा बनते हैं ॥ ६ ॥

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

ये। ते। देवि। शमितारः। पक्तारः। ये। च। ते। जनाः ॥ ते। त्वा। सर्वे। गोप्स्यन्ति। मा। एभ्यः। भैषीः। शत-ओदने ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी ! [विजयिनी वेदवाणी] (ये) जो (ते)

६—(सः) (तान्) प्रसिद्धान् (लोकान्) दर्शनीयान् जनान् (सम्) सम्यक् (आप्नोति) प्राप्नोति (ये) जनाः (दिव्याः) दिवु व्यवहारे-यप्। व्यवहारकुशलाः (ये) (च) (पार्थिवाः) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ। पा० ५। १। ४१। पृथिवी-अञ्। सार्वभौमाः। चक्रवर्तिनः (हिरण्यज्योतिषम्) हिरण्यस्य सुवर्णस्य वीर्यस्य पराक्रमस्य वा ज्योतिः प्रकाशो यया ताम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(ये) (ते) तव (देवि) हे विजयिनि वेदवाणि (शमितारः) अ०

तेरे (शमितारः) विचारने वाले (च) और (ये जनाः) जो जन (ते) तेरे (पक्तारः) पक्के [निश्चय] करने वाले हैं। (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे, (शतौदने) हे सैंकड़ों प्रकार सींचने वाली वेदवाणी (एभ्यः) इन [शत्रुओं] से (मा भैषीः) मत भय कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—विचारवान् और दृढ़ विश्वासी पुरुष वेदविद्या की रक्षा करके शत्रुओं से निर्भय रहते हैं ॥ ७ ॥

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा । आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

वसवः । त्वा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मरुतः । त्वा ॥ आ-दित्याः । पश्चात् । गोप्स्यन्ति । सा । अग्नि-स्तोमम् । अति । द्रव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वसवः) श्रेष्ठ पुरुष (त्वा) तुझ को (दक्षिणतः) दाहिनी ओर से, (मरुतः) शूर पुरुष (त्वा) तुझ को (उत्तरात्) ऊंचे वा बायें स्थान से, (आदित्याः) आदित्य [अखण्ड ब्रह्मचारी लोग] (पश्चात्) पीछे से (गोप्स्यन्ति) बचावेंगे, (सा) सो तू (अग्निष्टोमम्) सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति को (अति) अत्यन्त करके (द्रव) शीघ्र प्राप्त हो [ग्रहणकर] ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् शूरवीर पुरुष वेद की रक्षा करें जिससे ईश्वर के गुणों का अत्यन्त प्रकाश हो ॥ ८ ॥

९।५।५। शम आलोचने-तृच्। विचारवन्तः (पक्तारः) पक्वकारकाः। निश्चयकारकाः (ये) (च) (ते) (जनाः) मनुष्याः (ते) (त्वा) (सर्वे) (गोप्स्यन्ति) रक्षिष्यन्ति (एभ्यः) शत्रुभ्यः (मा भैषीः) भयं मा प्राप्नुहि (शतौदने) अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

८—(वसवः) श्रेष्ठाः पुरुषाः (त्वा) (दक्षिणतः) दक्षिणहस्तस्थितदेशात् (उत्तरात्) उच्चस्थानात्। वामदेशात् (मरुतः) अ० १।२०।१। शूरवीराः (त्वा) (आदित्याः) अ० १।९।१। अ+दिति-ण्य। अखण्डव्रता ब्रह्मचारिणः (पश्चात्) (गोप्स्यन्ति) (सा) सा त्वम् (अग्निष्टोमम्) अग्नेः सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य स्तुतिम् (अति) अत्यन्तम् (द्रव) शीघ्रं प्राप्नुहि ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ९ ॥

देवाः । पितरः । मनुष्याः । गन्धर्व-अप्सरसः । च । ये ॥ ते । त्वा । सर्वे । गोप्स्यन्ति । सा । अति-रात्रम् । अति । द्रव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले, (पितरः) पालन करने वाले (मनुष्याः) मनन करने वाले (च) और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व [पृथिवी धारण करनेवाले] और अप्सर लोग [आकाश में विमान आदि से चलने वाले, विवेकी लोग] हैं । (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे, (सा) सो तू (अतिरात्रम्) उत्कृष्ट दान क्रिया को (अति) उत्तमरीति से (द्रव) शीघ्र प्राप्त हो [ग्रहण कर] ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् सर्वोपकारी विवेकी जन वेद की रक्षा करके अत्यन्त दानशील होते हैं ॥ ९ ॥

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः । लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥ १० ॥ (३०)

अन्तरिक्षम् । दिवम् । भूमिम् । आदित्यान् । मरुतः । दिशः ॥ लोकान् । सः । सर्वान् । आप्नोति । यः । ददाति । शत-ओदनाम् ॥ १० ॥ (३०)

भाषार्थ—(सः) वह [मनुष्य] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (दिवम्)

९—(देवाः) विजिगीषवः (पितरः) पालकाः (मनुष्याः) मननशीलाः (गन्धर्वाप्सरसः) अ० २ । १ । २ ; ४ । ३७ । २ । गो+धृञ् धारणे-वप्रत्ययः, गमादेशः+अप्+सृ गतौ-असि । गां पृथिवीं धरन्तीति गन्धर्वास्ते, अप्सु आकाशे विमानादिना सरन्तीति अप्सरसः ते च पुरुषाः (च) (ये) (सा) सा त्वम् (अतिरात्रम्) राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । रा दाने-त्रिप् । अहःसर्वैकदेश० । पा० ५ । ४ । ८७ । अच् । अति उत्कृष्टां रात्रिं दानक्रियाम् (अति) उत्कर्षेण (द्रव) शीघ्रं प्राप्नुहि ॥

१०—(अन्तरिक्षम्) (दिवम्) सूर्यलोकम् (भूमिम्) (आदित्यान्)

सूर्य लोक, (भूमिम्) भूमि, (आदित्यान्) अखण्डब्रह्मचारियों, (मरुतः) शूरों, (दिशः) आदेष्टाओं [शासकों], [अर्थात्] (सर्वान्) सब (लोकान्) दर्शनीय जनों को (आप्नोति) पाता है, (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] का (ददाति) दान करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—सर्वहितकारिणी वेदविद्या के प्रचार से मनुष्य ज्ञान और यान विमान आदि द्वारा नीचे, ऊपर और मध्य लोक में गति करके उत्तम उत्तम पुरुषों के सङ्ग से अति आनन्द पाता है ॥ १० ॥

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति। पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥

घृतम् । प्र-उक्षन्ती । सु-भगा । देवी । देवान् । गमिष्यति ॥ पक्तारम् । अघ्न्ये । मा । हिंसीः । दिवम् । प्र । इहि । शत-ओदने ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(घृतम्) घृत [तत्त्व पदार्थ] (प्रोक्षन्ती) सींचती हुयी, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्य वाली (देवी) देवी [विजयिनी वेदवाणी] (देवान्) विद्वानों को (गमिष्यति) पहुंचेगी। (अघ्न्ये) हे न मारनेवाली ! [वेदवाणी] (पक्तारम्) [अपने] पक्के [दृढ़] करने वाले को (मा हिंसीः) मत मार, (शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! (दिवम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेद विद्या के तत्त्व को जानकर पुरुषार्थी होकर शुभ मनोरथ सिद्ध करें ॥ ११ ॥

म० ८। अखण्डव्रतान् ब्रह्मचारिणः (मरुतः) म० ८। शूरान्। देवान् (दिशः) दिश दाने आज्ञापने च-क्विप्। आदेष्टॄन्। शासकान् (लोकान्) जनान् (सर्वान्) (आप्नोति) प्राप्नोति। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५ ॥

११—(घृतम्) सारपदार्थम् (प्रोक्षन्ती) प्रकर्षेण सिञ्चन्ती (सुभगा) परमैश्वर्यवती (देवी) विजयिनी वेदविद्या) देवान्) विदुषः पुरुषान् (गमिष्यति) प्राप्स्यति (पक्तारम्) दृढकारकम् (अघ्न्ये) म० ३। हे अहिंसिके (मा हिंसीः) मा नाशय। अन्यत् पूर्ववत्-म० ३ ॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

ये । देवाः । दिवि-सदः । अन्तरिक्ष-सदः । च । ये । ये ।
च । इमे । भूम्याम् । अधि ॥ तेभ्यः । त्वम् । धुक्ष्व । सर्वदा ।
क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति । मधु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) दिव्य गुण (दिविषदः) सूर्य में वर्तमान (च) और (ये) जो (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्ष में व्याप्ति वाले (च] और (ये) जो (इमे) यह (भूम्याम् अधि) भूमि पर हैं। (त्वम्) तू (तेभ्यः) उन सब से (सर्वदा) सर्वदा (क्षीरम्) दूध (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधुविद्या [ब्रह्मज्ञान] (धुक्ष्व) भरपूर कर ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा संसार के सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर दुग्ध, घृत आदि पदार्थ शरीर पुष्टि के लिये और ब्रह्मज्ञान, आत्मतुष्टि के लिये सदा प्राप्त करें ॥ १२ ॥

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

यत् । ते । शिरः । यत् । ते । मुखम् । यौ । कर्णौ । ये इति ।
च । ते । हनू इति ॥ आमिक्षाम् । दुहताम् । दात्रे ।
क्षीरम् । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (शिरः) शिर, (यत्) जो (ते)

१२—(ये) (देवाः) दिव्यगुणाः (दिविषदः) सूर्ये स्थिताः (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्षे वर्तमानाः (च) (ये) (ये) (च) (इमे) (भूम्याम्) (अधि) उपरि (तेभ्यः) देवेभ्यः सकाशात् (त्वम्) (धुक्ष्व) दुग्धि । प्रपूरय (सर्वदा) (क्षीरम्) दुग्धम् (सर्पिः) घृतम् (अथो) अपि च (मधु) मधुज्ञानम् । ब्रह्मविद्याम् ॥

१३—(हनू) अ० १ । २१ । ३ । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ (आमिक्षाम्)

तेरा (मुखम्) मुख, (यौ) जो (कर्णौ) दो कान, (च) और (ये) जो (ते) तेरे (हनू) दो जावड़े हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा [पकाये उष्ण दूध में दही मिलाने से उत्पन्न वस्तु], (क्षीरम्) दूध, (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधु ज्ञान [ब्रह्मविद्या] (दात्रे) दाता को (दुहताम्) भरपूर करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—यहां से मन्त्र २४ तक वेद वाणी को गौ आदि के समान आकार वाली मानकर वर्णन है। तात्पर्य्य यह है कि जैसे शरीर के अङ्ग प्राणियों के लिये अनेक प्रकार उपकारी बने हैं, वैसेही वेदवाणी से अनेक उपकार लेकर मनुष्य शारीरिक और आत्मिक पुष्टि करें ॥ १३ ॥

यौ त॒ ओष्ठौ॒ ये नासि॑के॒ ये शृङ्गे॒ ये च॒ तेऽक्षि॑णी। आमिक्षां०॥१४

यौ। ते॒। ओष्ठौ॑। ये इति॑। नासि॑के॒ इति॑। ये इति॑। शृङ्गे॒ इति॑। ये इति॑। च॒। ते॒। अक्षि॑णी इति॑ ॥० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरे (ओष्ठौ) दो ओठ, (ये) जो (नासिके) दो नथने, (ये) जो (शृङ्गे) दो सींग (च) और (ये) जो (ते) तेरे तेरी (अक्षिणी) दो आंखें हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा···म० १३ ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १४ ॥

यत् ते॑ क्लो॒मा यद्धृद॑यं पु॒रीत॒त् स॒हक॑ण्ठिका। आमिक्षां०॥१५॥

यत्। ते॒। क्लो॒मा। यत्। हृद॑यम्। पु॒रि॒ऽतत्। स॒हऽक॑ण्ठिका॥०१५

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (क्लोमा) फेफड़ा, (यत्) जो (हृदयम्) हृदय और (सहकण्ठिका) कण्ठ के सहित (पुरीतत्) पुरीतत् [शरीर को फैलाने वाली सूक्ष्म आंत] है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा······ म० १३ ॥ १५ ॥

अ० ९। ४। ४। आङ्+मिष सेचने-सक्। पकोष्णक्षीरे दध्ना कृतं द्रव्यम् (दुहताम्) अ० ७। ८२। ६। दुहताम्। प्रपूरयन्तु (दात्रे) दानशीलाय। अन्यत् स्पष्टं गतं च-म० १२ ॥

१४—(अक्षिणी) नेत्रे। अन्यत् स्पष्टम् ॥

१५—(क्लोमा) अ० २। ३३। ३। फुप्फुसम् (पुरीतत्) अ० ९। ७। ११। पुरिं शरीरं तनोतीति। सूक्ष्मान्तरम् (सहकण्ठिका) कण्ठेन सहिता। अन्यत् स्पष्टं गतं च ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १५ ॥

यत् ते॑ यकृ॒द् ये मत॑स्ने॒ यदा॒न्त्रं याश्च॑ ते॒ गुदाः॑। आमिक्षां०१६

यत् । ते॒ । यकृ॑त् । ये इति॑ । मत॑स्ने॒ इति॑ । यत् । आ॒न्त्रम् । याः । च॒ । ते॒ । गुदाः॑ ॥ ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (यकृत्) कलेजा, (ये) जो (मतस्ने) दो मतस्ने [गुर्दे], (यत्) जो (आन्त्रम्) आंत (च) और (याः) जो (ते) तेरी (गुदाः) गुदा [मल त्याग नाड़ियां] हैं। ये सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा ......म० १३ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १६ ॥

यस्ते॑ प्ला॒शिर्यो व॑नि॒ष्ठुर्यौ कु॒क्षी यच्च॒ चर्म॑ ते। आमिक्षां०॥१७॥

यः । ते॒ । प्ला॒शिः । यः । व॒नि॒ष्ठुः । यौ । कु॒क्षी इति॑ । यत् । च॒ । चर्म॑ । ते॒ ॥ ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ते) तेरी (प्लाशिः) प्लाशि [अन्न की आधार आंत], (यः) जो (वनिष्ठुः) वनिष्ठु [अन्न, रक्त आदि बांटने वाली आंत], (यौ) जो (कुक्षी) दो कोखें (च) और (यत्) जो (ते) तेरा (चर्म) चर्म है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......म० १३ ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १७ ॥

यत् ते॑ म॒ज्जा यद॒स्थि यन्मां॒सं यच्च॒ लोहि॑तम् । आमिक्षां०।१८

१६—(यकृत्) अ० ९ । ७ । ११ । कालखण्डम् (मतस्ने) अ० २ । ३३ । ३ । ग्रीवाधस्ताद्भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी (आन्त्रम्) अ० २ । ३३ । ४ । उदरनाडीविशेषः (गुदाः) अ० २ । ३३ । ४ । मलत्यागनाड्यः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१७—(प्लाशिः) अ० ९ । ७ । १२ । अन्नाधार आन्त्रविशेषः (वनिष्ठुः) अ० ९ । ७ । १२ । अन्नरक्तादिसंभाजकं स्थूलान्त्रम् (कुक्षी) उदरपार्श्वौ । अन्यत् स्पष्टम् ॥

यत् । ते । मज्जा । यत् । अस्थि । यत् । मांसम् । यत् । च । लोहितम् । ॥ ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरी (मज्जा) मज्जा [हड्डी की मींग] (यत्) जो (अस्थि) हड्डी, (यत्) जो (मांसम्) मांस (च) और (यत्) जो (लोहितम्) रक्त है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......मन्त्र १३ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १८ ॥

यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् । आमिक्षां०॥१९

यौ । ते । बाहू इति । ये इति । दोषणी इति । यौ । अंसौ । या । च । ते । ककुत् ॥ ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरी (बाहू) दो भुजायें (ये), जो (दोषणी) दो भुजदण्ड, (यौ) जो (अंसौ) दो कन्धे (च) और (या) जो (ते) तेरा (ककुत्) कूबर [कुब्ब] है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......मन्त्र १३ ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १९ ॥

यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः । आमिक्षां०।२०।(३१)

याः । ते । ग्रीवाः । ये । स्कन्धाः । याः । पृष्टीः । याः । च । पर्शवः ॥ ० ॥ २० ॥ (३१)

भाषार्थ—(याः) जो (ते) तेरी (ग्रीवाः) गले की नाड़ियां, (ये) जो (स्कन्धाः) कन्धे की हड्डियां, (याः) जो (पृष्टीः) छोटी पसलियां (च)

१८—(मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । छान्दसो दीर्घः । अस्थिमध्यस्थस्नेहः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१९—(दोषणी) अ० ९ । ७ । ७ । भुजदण्डौ (ककुत्) अ० ३ । ४ । २ । वृषादिस्कन्धपृष्ठस्थ मांसपिण्डः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

२०—(ग्रीवाः) कण्ठस्थनाड्यः (स्कन्धाः) स्कन्धास्थीनि (पृष्टीः) अ०

और (याः) जो (पर्शवः) बड़ी पसलियां हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा ......म० १३ ॥ २० ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २० ॥

यौ ते ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्। आमिक्षां०॥२१

यौ। ते। ऊरू इति। अष्ठीवन्तौ। ये इति। श्रोणी इति। या। च। ते। भसत् ॥ ० ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरे (ऊरू) दो घुटने और (अष्ठीवन्तौ) घुटनों के दो जोड़, (ये) जो (श्रोणी) दो कूल्हे (च) और (या) जो (ते) तेरा (भसत्) पेडू है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा.. ...म० १३ ॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २१ ॥

यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः। आमिक्षां०॥२२

यत्। ते। पुच्छम्। ये। ते। बालाः। यत्। ऊधः। ये। च। ते। स्तनाः ॥ ० ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरी (पुच्छम्) पूंछ, (ये) जो (ते) तेरे (बालाः) बाल, (यत्) जो (ऊधः) मेड़ [दूध का छिद्रस्थान] (च) और (ये) जो (ते) तेरे (स्तनाः) स्तन [दूध के आधार] हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा.........म० १३ ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २२ ॥

यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः। आमिक्षां०२३

६। ७। ६। पार्श्वास्थीनि (पर्शवः) अ० ६। ७। ६। पार्श्वाधःस्थास्थीनि। अन्यत् स्पष्टम् ॥

२१—(ऊरू) जानुनी (अष्ठीवन्तौ) अ० २। ३३। ५। जानुसंयोगास्थिनी (श्रोणी) कटिदेशौ (भसत्) नाभितलभागः। अन्यत् स्पष्टम् ॥

२२—(पुच्छम्) लाङ्गूलम् (बालाः केशाः (ऊधः) दुग्धच्छिद्रस्थानम् (स्तनाः) दुग्धाधाराः। अन्यत् स्पष्टम् ॥

याः । ते । जङ्घाः । याः । कुष्ठिकाः । ऋच्छराः । ये । च । ते । शफाः ॥ ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ते) तेरी (जङ्घाः) जङ्घायें, (याः) जो (कुष्ठिकाः) कुष्ठिकायें [नख अङ्गुली आदि बाहिरी अङ्ग] और (ऋच्छराः) ऋच्छरायें [खुरों के ऊपर के भाग] (च) और (ये) जो (ते) तेरे (शफाः) खुर हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......म० १३ ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २३ ॥

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये । आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

यत् । ते । चर्म । शत-ओदने । यानि । लोमानि । अघ्न्ये । आमिक्षाम् । दुह्रताम् । दात्रे । क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति । मधु ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! और (अघ्न्ये) हे न मारनेवाली ! [वेदवाणी] (यत्) जो (ते) तेरा (चर्म) चर्म और (यानि) जो (लोमानि) लोम हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा [पकाये उष्ण दूध में दही मिलाने से उत्पन्न वस्तु], (क्षीरम्) दूध, (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधुज्ञान [ब्रह्मविद्या] (दात्रे) दाता को (दुह्रताम्) भरपूर करें ॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २४ ॥

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ । तौ पक्षौ देवि

२३—(जङ्घाः) अ० ६ । ७ । १० । गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवाः (कुष्ठिकाः) अ० ६ । ४ । १६ । नखाङ्गुल्यादिबहिर्भूता अवयवाः (ऋच्छराः) ऋच्छेररः । उ० ३ । १३१ । ऋच्छ गतौ—अर । खुरोपरिस्थभागाः (शफाः) खुराः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

२४—(शतौदने) म० १ । हे बहुप्रकारसेचनशीले (अघ्न्ये) म० ३ । हे अहिंसिके वेदवाणि । अन्यद् गतम्—म० १३ स्पष्टं च ॥

कृत्वा सा पुक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

क्रोडौ । ते । स्ताम् । पुरोडाशौ । आज्येन । अभि-घारितौ ॥ तौ । पक्षौ । देवि । कृत्वा । सा । पुक्तारम् । दिवम् । वह ॥२५

भाषार्थ—(ते) तेरी (क्रोडौ) दो गोदें (आज्येन) घी से (अभिघारितौ) चुपड़ीं हुई (पुरोडाशौ) दो रोटियां [मुनि अन्न की पवित्र रोटियां] (स्ताम्) होवें । (देवि) हे देवी ! [विजयिनी वेदविद्या] (सा) सो तू (तौ) उन दोनों [गोदों] को (पक्षौ) दो पंख (कृत्वा) बनाकर (पक्तारम्) अपने पक्के [दृढ़] करने वाले को (दिवम्) प्रकाश में (वह) पहुंचा दे ॥ २५॥

भावार्थ—मनुष्य वेदवाणी के एक विद्यादायक और दूसरे पुरुषार्थ वर्धक गुणों को शीघ्र प्राप्त करके आत्मा को प्रकाश युक्त करे, जैसे बालक माता की दोनों गोदों में रहकर दुग्ध आदि से शीघ्र पुष्ट होता हुआ उत्तम मार्ग पर चलता है ॥ २५ ॥

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः । यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु २६

उलूखले । मुसले । यः । च । चर्मणि । यः । वा । शूर्पे । तण्डुलः । कणः । यम् । वा । वातः । मातरिश्वा । पवमानः । ममाथ । अग्निः । तत् । होता । सुऽहुतम् । कृणोतु ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (तण्डुलः) चावल [वा] (कणः) कनी [चावल का टुकड़ा] (उलूखले) ओखली में; (मुसले) मूसल में (च) और

२५—(क्रोडौ) क्रुड बाल्ये, निमज्जने भक्षणे च—घञ् । अङ्कौ (ते) तव (स्ताम्) भवताम् (पुरोडाशौ) अ० ९ । ६ । (१) । १२ । मुन्यन्नरोटिकाविशेषौ (आज्येन) घृतेन (अभिघारितौ) घृ क्षरणे—णिच्—क्त । सर्वतः स्निग्धौ (तौ) क्रोडौ (पक्षौ) पक्षिणां पतत्रौ (देवि) हे विजयिनि (कृत्वा) (सा) सा त्वम् (पक्तारम्) पक्वकारकं दृढकारकम् (दिवम्) प्रकाशं प्रति (वह) नय ॥

२६—(उलूखले) अ० ९ । ६ (१) । १५ । धान्यादिकण्डनसाधने (मुसले) अ० ९ (१) । १५ । धान्यादिखण्डनसाधने (चर्मणि) भाजने

(चर्मणि) चर्म [मृग छाला वा वाघम्बर] में (वा) अथवा (यः) जो (शूर्पे) सूप में है। (वा) अथवा (यम्) जिसको (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाले (पवमानः) शोधने वाले (वातः) वायु ने (ममाथ) मथा था, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उस को (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ २६ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अन्न को एक एक बीज करके अनेक प्रकार कूट फटककर उपयोगी बनाते हैं, वैसे ही मनुष्य वेदवाणी को ब्रह्मचर्य आदि अनेक तप से प्राप्त करके परमेश्वर के आश्रय से संसार में उपकारी बनें ॥ २६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद अथर्व० ६। ७१। २। में आचुका है ॥

अपो दे॒वीर्मधु॑मतीर्घृत॒श्चुतो॑ ब्र॒ह्मणां॒ हस्ते॑षु प्रपृ॒थक् सा॑दयामि । यत्का॑म इ॒दम॑भिषि॒ञ्चामि॑ वो॒ऽहं तन्मे॒ सर्वं॒ सं प॑द्यतां व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ २७ ॥ (३२)

अ॒पः । दे॒वीः । मधु॑-मतीः । घृ॒त॒-श्चुतः॑ । ब्र॒ह्मणा॑म् । हस्ते॑षु । प्र-पृ॒थक् । सा॒द॒या॒मि॒ ॥ यत्-का॑मः । इ॒दम् । अ॒भि॒षि॒ञ्चामि॑ । वः॒ । अ॒हम् । तत् । मे॒ । सर्व॑म् । सम् । प॒द्य॒ता॒म् । व॒यम् । स्या॒म॒ । पत॑यः । र॒यी॒णाम् ॥ २७ ॥ (३२)

भाषार्थ—(देवीः) देवी [विजयिनी] (मधुमतीः) श्रेष्ठ मधुविद्या

चर्म कृतिः स्त्री—इत्यमरः १७। ४७। अजिने। मृगचर्मणि। व्याघ्रचर्मणि (शूर्पे) अ० ६। ६ (१)। १६। धान्यस्फोटकयन्त्रे (तण्डुलः) सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुला०। उ० ४। १७। तडि आघाते—उलच्। यद्वा, वृञ्लुटितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च। उ०५। ६। वृञादिभ्यः—उलच्, सर्वेषां तण्डादेशश्च। तुषरहितो व्रीहिः (कणः) धान्यादेरतिसूक्ष्मांशः (यम्) (वा) (वातः) वायुः (मातरिश्वा) अ०५। १०। ८। आकाशगमनः (पवमानः) संशोधकः (ममाथ) मथितवान् (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (तत्) (होता) दाता (सुहुतम्) सुष्ठु स्वीकृतम् (कृणोतु) करोतु ॥

२७—(अपः) व्यापनशीला वेदविद्याः (देवीः) विजयिनीः (मधुमतीः)

[ब्रह्मज्ञान] वाली, (घृतश्चुतः) घृत [सारतत्त्व] बरसाने वाली (अपः) व्यापनशील [वेदवाणियों] को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्माओं [वेदवेत्ताओं] के (हस्तेषु) हाथों में (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं रखता हूं। [हे विद्वानो !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, (तत् सर्वम्) वह सब (मे) मेरे लिये (सम् पद्यताम्) सम्पन्न हो, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वगुणसम्पन्न वेदविद्या को विद्वानों के साथ विचार कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, जिस से सब लोग विद्याधन और सुवर्ण आदि धन पाकर आनन्द भोगें ॥ २७ ॥

इस मन्त्र के पाद दो और तीन अथर्व ६ । १२२ , ५ । में आये हैं ॥

सूक्तम् १० ॥

१—३४ ॥ वशा देवता ॥ १, २, ३, ६, ७, ८, ११-२२, २५, २८, ३०, ३१, ३३ अनुष्टुप्; ४, ६ निचृदनुष्टुप्; ५, २३ आर्षी बृहती; १०, २७ विराडनुष्टुप्; २४, ३२ स्वराडनुष्टुप्, २६ विराट् पङ्क्तिः; २६ त्रिपदा विराड् गायत्री ३४ भुरिगनुष्टुप् ॥

ईश्वरशक्तिमहिमोपदेशः—ईश्वर शक्ति की महिमा का उपदेश ॥

नम॑स्ते॒ जाय॑मानायै जा॒तायां उ॒त ते॒ नम॑: । बाले॑भ्यः श॒फेभ्यो॑ रू॒पाया॑घ्न्ये ते॒ नम॑: ॥ १ ॥

नम॑: । ते॒ । जाय॑मानायै । जा॒तायै॑ । उ॒त । ते॒ । नम॑: ॥ बाले॑भ्यः । श॒फेभ्य॑: । रू॒पाय॑ । अ॒घ्न्ये॒ । ते॒ । नम॑: ॥ १ ॥

ब्रह्मज्ञानेन युक्ताः (घृतश्चुतः) अ० ३ । ३३ । ४ । सारतत्त्वस्राविणीः (ब्रह्मणाम्) वेदज्ञानाम् (हस्तेषु) (प्रपृथक्) अ० ६ । १२२ । ५ । नानाप्रकारेण (सादयामि) स्थापयामि (यत्कामः] यत्पदार्थं कामयमानः (इदम्) इदानीम् (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्तान् करोमि (वः) युष्मान् (अहम्) (तत्) (मे) मह्यम् (सर्वम्) (सम् पद्यताम्) सम्पन्नं साधितं भवतु (वयम्) (स्याम) (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) नानाधनानाम् ॥

भाषार्थ—(ते जायमानायै) तुझ प्रकट होती हुई को (नमः) नमस्कार (उत) और (ते जातायै) तुझ प्रकट हो चुकी को (नमः) नमस्कार है। (अघ्न्ये) हे न मारने वाली [परमेश्वर शक्ति !] (वालेभ्यः) बलों के लिये और (शफेभ्यः) शान्ति व्यवहारों के लिये (ते) तेरे (रूपाय) स्वरूप [फैलाव] को (नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के जिन गुणों को बुद्धिमान् लोग जानते जाते हैं और जिनको जान चुके हैं, विवेकी जन उन अद्भुत गुणों को साक्षात् करके बल वृद्धि और शान्ति प्रचार के लिये परमेश्वर को सदा नमस्कार करें ॥ १० ॥

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः । शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥ २ ॥

यः । विद्यात् । सप्त । प्र-वतः । सप्त । विद्यात् । परा-वतः ॥ शिरः । यज्ञस्य । यः । विद्यात् । सः । वशाम् । प्रति । गृह्णीयात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [विद्वान्] (सप्त) सात [२ हाथ, २ पांव, १ पायु, १ उपस्थ और १ उदर] (प्रवतः) उत्तम गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जाने, और (सप्त) सात [२ कान, २ नथने, २ आंखें और १ मुख] (परावतः) दूर गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जान जावे। (यः) जो

१—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (जायमानायै) उत्पद्यमानायै (जातायै) पूर्वकालात् प्रसिद्धायै (उत) अपि (वालेभ्यः) बल प्राणने धान्यावरोधने च—घञ् । नानाबलेभ्यः (शफेभ्यः) अ० ६ । ७ । १० । शमे शान्तौ—अच् , मस्य फः । शान्तिव्यवहाराणां सिद्धये (रूपाय) स्वरूपाय । विस्ताराय (अघ्न्ये) अ० १० । ६ । ३ । नञ् + हन हिंसागत्योः—यक् , टाप् । हे अहिंसिके रक्षिके । परमेश्वरशक्ते । अन्यद् गतम् ॥

२—(यः) विद्वान् (विद्यात्) जानीयात् (सप्त) हस्तपादद्वयपायूपस्थोदररूपान् (प्रवतः) अ० ३ । १ । ४ । प्र-वति धात्वर्थे साधने । प्रकृष्टगतीन् लोकान् (सप्त) कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखरूपान् (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परा-वति धात्वर्थे साधने । दूरगतीन् देशान् (शिरः) प्रधानः स्वात्मेत्यर्थः (य-

(यज्ञस्य) यज्ञ [श्रेष्ठकर्म] के (शिरः) शिर [प्रधान अपने आत्मा] को (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह [पुरुष] (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (प्रति) प्रतीति से (गृह्णीयात्) ग्रहण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शरीर के सात नीचे और सात ऊंचे, चौदह लोकों अर्थात् इन्द्रियों की अद्भुत शक्तियों को अपने आत्मा के सम्बन्ध के सहित जान लेवे, वही पुरुष सबके निर्माता परमेश्वर की शक्ति को साक्षात् करके अपनी शक्ति बढ़ावे ॥ २ ॥

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः । शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥

वेद । अहम् । सप्त । प्र-वतः । सप्त । वेद । परा-वतः ॥ शिरः । यज्ञस्य । अहम् । वेद । सोमम् । च । अस्याम् । वि-चक्षणम् ॥३

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सप्त) सात [मन्त्र २] (प्रवतः) उत्तम गति वाले [लोकों] को (वेद) जानता हूं, (सप्त) सात [मन्त्र २] (परावतः) दूर गति वाले [लोकों] को (वेद) जानता हूं । (अहम्) मैं (यज्ञस्य) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म] के (शिरः) शिर [प्रधान अपने आत्मा] को (च) और (अस्याम्) इस [कमनीय शक्ति मन्त्र २] में वर्तमान (विचक्षणम्) विविध द्रष्टा [महापण्डित] (सोमम्) सर्वप्रेरक [परमात्मा] को (वेद) जानता हूं ॥३॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने शरीर के चौदह भुवन और अपने आत्मा की विचित्र गति को जान लेता है, वह परमेश्वर को और उसकी शक्ति को जानने में समर्थ होता है-मन्त्र २ देखो ॥ ३ ॥

ज्ञस्य) श्रेष्ठव्यवहारस्य (सः) पुरुषः (वशाम्) दशिरएयोरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश कान्तौ—अप् । वशा स्वाधीना-महीधरभाष्ये—यजु० २ । १६ । वशा कमनीयानि-दयानन्दभाष्ये, ऋक्० २ । २४ । १२ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (प्रति) प्रतीत्या (गृह्णीयात्) स्वीकुर्यात् ॥

३-(वेद) जानामि (अहम्) उपासकः (सोमम्) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव-निरु० १४ । १२ । सर्वोत्पादकं सर्वप्रेरकं वा परमात्मानम् (च) (अस्याम्) वशायाम् । कमनीयायां शक्तौ वर्तमानम् (विचक्षणम्) विविधद्रष्टारम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० २ ॥

यथा द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः । वशां सहस्र-धारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

यथा । द्यौः । यया । पृथिवी । यया । आपः । गुपिताः । इमाः ॥ वशाम् । सहस्र-धाराम् । ब्रह्मणा । अच्छ-आवदामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस [शक्ति] करके (द्यौः) सूर्य, (यया) जिस करके (पृथिवी) पृथिवी और (यया) जिस करके (इमाः) यह (आपः) प्रजायें (गुपिताः) रक्षित हैं। (सहस्रधाराम्) सहस्रों पदार्थों की धारण करने वाली (वशाम्) [उस] वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अच्छावदामसि) हम आदर से बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—हम लोग वेद द्वारा परमेश्वर की सर्वरक्षक शक्ति को यथावत् जानकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः । ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

शतम् । कंसाः । शतम् । दोग्धारः । शतम् । गोप्तारः । अधि । पृष्ठे । अस्याः ॥ ये । देवाः । तस्याम् । प्राणन्ति । ते । वशाम् । विदुः । एक-धा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शतम्) सौ [बहुत से] (कंसाः) कामना करने वाले, (शतम्) सौ (दोग्धारः) दोहने वाले, (शतम्) सौ (गोप्तारः) रक्षा करने वाले [पुरुष] (अस्याः) इस [शक्ति] की (पृष्ठे) पीठ पर [सहारे में]

४—(यया) शक्त्या (द्यौः) सूर्यः (पृथिवी) (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (गुपिताः) रक्षिताः (इमाः) दृश्यमानाः (वशाम्) म० २ । कमनीयां परमात्मशक्तिम् (सहस्रधाराम्) अ० ७ । १५ । १ । असंख्यपदार्थानां धरित्रीम् (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (अच्छावदामसि) अ० ७ । ३८ । ३ । सत्कारेणाह्वयामः । अन्यद् गतम् ॥

५—(शतम्) शतं बहुनाम—निघ० ३ । १ (कंसाः) वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः । उ० ३ । ६२ । कमु कान्तौ—सप्रत्ययः । कामयमानाः

(अधि) अधिकार पूर्वक हैं। और (ये) जो (देवाः) विद्वान् लोग (तस्याम्) उस [शक्ति] में (प्राणन्ति) जीवन करते हैं, (ते) वे लोग (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (एकधा) एक प्रकार से [सत्य रीति से] (विदुः) जानते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो जो पुरुष कामना करके खोज लगाते हुये परमेश्वर की शक्ति का आश्रय लेकर पुरुषार्थ से जीवन करते हैं, वेही उस के सत्य ज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका । वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

यज्ञ-पदी । इरा-क्षीरा । स्वधा-प्राणा । महीलुका ॥ वशा । पर्जन्य-पत्नी । देवान् । अपि । एति । ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यज्ञपदी) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] में स्थिति वाली, (इराक्षीरा) अन्न और जल वाली, (स्वधाप्राणा) अपनी धारण शक्ति से जाने वाली, (महीलुका) बड़ी दीप्ति वाली, (पर्जन्यपत्नी) मेघ की पालने वाली (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (देवान्) विद्वानों को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अपि एति) पहुंच जाती है ॥ ६ ॥

(दोग्धारः) प्रपूरयितारः। अन्वेष्टारः (गोप्तारः) रक्षितारः (अधि) अधिकारपूर्वकं (पृष्ठे) आश्रये (अस्याः) वशायाः (ये) देवाः विद्वांसः (तस्याम्) वशायाम् (प्राणन्ति) प्रकर्षेण जीवन्ति (ते) (वशाम्) म० २। कमनीयां परमात्मशक्तिम् (विदुः) जानन्ति (एकधा) एकप्रकारेण। सत्यरीत्या ॥

६—(यज्ञपदी) पद स्थैर्ये गतौ च–अच् ङीप्। यज्ञे श्रेष्ठव्यवहारे पदं स्थानं यस्याः सा (इराक्षीरा) इरा अन्नम्–निघ० २। ७। क्षीरमुदकम्–निघ० १। १२। इरा च क्षीरं च इराक्षीरम्, ततो मत्वर्थे अर्शआद्यच्, टाप्। अन्नजलवती (स्वधाप्राणा) स्वधया स्वधारणशक्त्या प्राणिति जीवतीति सा तथाभूता (महीलुका) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च–क्विप्, टाप्। महती रुचा दीप्तिर्यस्याः सा (वशा) म० २। कमनीया परमेश्वरशक्तिः (पर्जन्यपत्नी) देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः–निरु० १२। ४४। मेघस्य पालयित्री (देवान्) विदुषः पुरुषान् (अपि) एव (एति) प्राप्नोति (ब्रह्मणा) वेदद्वारा ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग श्रेष्ठ कामों से वेद द्वारा ईश्वर शक्ति का ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

अनु त्वाग्निः प्राविशुदनु सोमो वशे त्वा । ऊधस्ते भद्रे पुर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

अनु । त्वा । अग्निः । प्र । अविशत् । अनु । सोमः । वशे । त्वा ॥ ऊधः । ते । भद्रे । पर्जन्यः । वि-द्युतः । ते । स्तनाः । वशे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (अग्निः) अग्नि ने [पदार्थों में], (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (सोमः) प्रेरणा करने वाले [जीवात्मा] ने [शरीर में] (प्र अविशत्) प्रवेश किया है। (भद्रे) हे कल्याणी ! (वशे) वशा ! (पर्जन्यः) मेघ (ते) तेरा (ऊधः) मेड़ [दुग्ध के छिद्र स्थान के समान] और (विद्युतः) बिजुलियें (ते) तेरे (स्तनाः) स्तन [दुग्ध के आधारों के समान] हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही शक्ति से अग्नि, जीवात्मा, मेघ, बिजुली आदि अपना अपना काम करते हैं ॥ ७ ॥

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे । तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

अपः । त्वम् । धुक्षे । प्रथमाः । उर्वराः । अपराः । वशे ॥ तृतीयम् । राष्ट्रम् । धुक्षे । अन्नम् । क्षीरम् । वशे । त्वम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वम्)

७—(अनु) अनुसृत्य (त्वा) त्वाम् (अग्निः) पावकः (प्र अविशत्) प्रविष्टवान् (अनु) (सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव-निरु० १४। १२। शरीरस्य प्रेरको जीवात्मा (वशे) म० २। कमनीये परमात्म-शक्ते (त्वा) (ऊधः) आपीनम् (ते) तव (भद्रे) हे कल्याणि (पर्जन्यः) मेघः (विद्युतः) तडितः (स्तनाः) दुग्धाधाराः ॥

८—(अपः) म० ४। प्रजाः। सष्टपदार्थाः (त्वम्) (धुक्षे) दुह

तू (प्रथमाः) प्रधान और (अपराः) अप्रधान (अपः) प्रजाओं को (उर्वराः) उपजाऊ भूमियों से (धुक्षे) भरपूर करती है। (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य शक्ति] (त्वम्) तू (अन्नम्) अन्न, (क्षीरम्) जल और (तृतीयम्) तीसरे (राष्ट्रम्) राज्य से [संसार] को (धुक्षे) भरपूर करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से ही बड़े छोटे तथा मध्यम जीवों के लिये भोजन उत्पन्न होते हैं, और संसार में अन्न, जल और राज्यव्यवस्था चलती है ॥ ८ ॥

यदा॑दि॒त्यैर्हू॒यमा॑नोपा॒तिष्ठ॑ ऋतावरि। इन्द्रः॑ स॒हस्रं॒ पात्रा॒न्त्सोमं॑ त्वापाययद्वशे ॥ ९ ॥

यत्। आ॒दि॒त्यैः। हू॒यमा॑ना। उ॒प॒ऽअति॑ष्ठः। ऋ॒त॒ऽव॒रि॒ ॥ इन्द्रः॑। स॒हस्र॑म्। पात्रा॑न्। सोम॑म्। त्वा॒। अ॒पा॒य॒य॒त्। व॒शे॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (यत्) जब (आदित्यैः) आदित्यों [अखण्ड ब्रह्मचारियों] करके (हूयमाना) पुकारी गई तू (उपातिष्ठः) पास पहुंची। (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (इन्द्रः) इन्द्र [परमेश्वर] ने (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (पात्रान्) रक्षणीय दान योग्य पुरुषों को (सोमम्) मोक्षरूपी अमृत (त्वा=त्वया) तुझ से (अपाययत्) पान कराया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वर शक्ति को पहिचानते हैं और वे सब पुरुष परमेश्वर के नियम अनुसार दुःखों से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ९ ॥

प्रपूरणे—लट्, द्विकर्मकः। प्रपूरयसि (प्रथमाः) प्रधानाः (उर्वराः) सर्वशस्ययुक्तभूमिभ्यः सकाशात् (अपराः) अप्रधानाः (वशे) म० २ (तृतीयम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (धुक्षे) प्रपूरयसि संसारमितिशेषः (अन्नम्) भोजनम् (क्षीरम्) अ० १ । १५ । ४ । जलम्—निघ० १ । १२ । अन्यद् गतम् ॥

९—(यत्) यदा (आदित्यैः) अखण्डब्रह्मचारिभिः (हूयमाना) कृताह्वाना (उपातिष्ठः) समीपं स्थितवती (ऋतावरि) अ० ३ । १३ । ७ । हे सत्यशीले (इन्द्रः) परमेश्वरः (सहस्रम्) बहून् (पात्रान्) रक्षणीयान् दानयोग्यान् पुरुषान् (सोमम्) मोक्षरूपममृतम् (त्वा) त्वया—इत्यर्थः (अपाययत्) पानं कारितवान् (वशे) म० २ ॥

यद॑नूचीन्द्रमैरा॒त् त्वं ऋ॑षभोऽह्वयत् । तस्मा॑त् ते वृत्र॒हा पयः॑ क्षी॒रं क्रु॒द्धोऽह॑रद् व॒शे ॥ १० ॥ (३३)

यत् । अ॒नू॒ची । इन्द्र॑म् । ऐः । आत् । त्वा॒ । ऋ॒ष॒भः । अह्व॑यत् ॥ तस्मा॑त् । ते॒ । वृ॒त्र॒ऽहा । पयः॑ । क्षी॒रम् । क्रु॒द्धः । अह॑रत् । व॒शे॒ ॥ १० ॥ (३३)

भाषार्थ—(यत्) जब (इन्द्रम् अनूची) जीवात्मा के पीछे चलती हुई तू (ऐः) गई है, (आत्) तब (ऋषभः) सूक्ष्मदर्शी परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (अह्वयत्) बुलाया। (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तस्मात्) उस [पुरुष] से (ते) तेरे लिये (क्रुद्धः) क्रुद्ध (वृत्रहा) अन्धकार नाशक [परमेश्वर] ने (पयः) अन्न और (क्षीरम्) जल को (अहरत्) ले लिया ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की सर्वव्यापक शक्ति में झगड़ा करके हाथ बढ़ाना चाहता है, वह मनुष्य मतिभ्रष्ट होकर दुःख भोगता है ॥ १० ॥

यत् ते॑ क्रु॒द्धो धन॑पति॒रा क्षी॒रमह॑रद् वशे । इ॒दं तद॒द्य नाकं॑स्त्रि॒षु पात्रे॑षु रक्षति ॥ ११ ॥

यत् । ते॒ । क्रु॒द्धः । धन॑ऽपतिः । आ । क्षी॒रम् । अह॑रत् । व॒शे॒ ॥ इ॒दम् । तत् । अ॒द्य । नाकः॑ । त्रि॒षु । पात्रे॑षु । र॒क्ष॒ति॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ-(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति (यत्)

१०—(यत्) यदा (अनूची) अ० ३ । १ । ४ । अनु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप्। पश्चाद् गच्छन्ती (इन्द्रम्) जीवात्मनम् (ऐः) अगच्छः (आत्) तदा (त्वा) त्वाम् (ऋषभः) अ० ३ । ४ । ६ । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । सूक्ष्मदर्शी परमेश्वरः (अह्वयत्) आहूतवान् (तस्मात्) जीवात्मनः (ते) तुभ्यम् (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः परमात्मा (पयः) अन्नम्—निघ० २ । ७ (क्षीरम्) जलम्—निघ० १ । १२ (क्रुद्धः) कुपितः (अहरत्) हृतवान् (वशे) म० २ ॥

११—(यत्) यदा (ते) तुभ्यम् (क्रुद्धः) कुपितः (धनपतिः)

जब (क्रुद्धः) क्रुद्ध (धनपतिः) धनों के स्वामी [परमेश्वर] ने (ते) तेरे लिये (क्षीरम्) जल [उत्पत्ति साधन] को (आ अहरत्) [दुष्ट जन से] ले लिया। (तत्) तब (इदम्) जल को (अद्य) आज (नाकः) क्लेश शून्य [आनन्दस्वरूप परमात्मा] (त्रिषु) तीन [ऊंचे, नीचे और मध्य] (पात्रेषु) रक्षा के आधार [लोकों] में (रक्षति) रक्षित रखता है ॥ ११॥

भावार्थ—परमात्मा की महिमा को न मानने वाले पुरुष को [मन्त्र १० देखो] वह क्रुद्ध जगदीश्वर निर्बल करके उत्पत्ति साधन आदि द्रव्य को यथानियम ऊपर नीचे और मध्य लोकों में विभाग करके देता है ॥ ११ ॥

त्रिषु पात्रेषु तं सोम॒मा दे॒व्य॑हरद्व॒शा । अथ॑र्वा यत्र॑ दीक्षि॒तो ब॒र्हिष्यास्त॑ हि॒रण्यये॑ ॥ १२ ॥

त्रिषु । पात्रे॑षु । तम् । सोम॑म् । आ । दे॒वी । अ॒ह॒र॒त् । व॒शा ॥ अथ॑र्वा । यत्र॑ । दी॒क्षि॒तः । ब॒र्हिषि । आस्त॑ । हि॒र॒ण्यये॑ ॥१२॥

भाषार्थ—(त्रिषु) तीन [ऊंचे, नीचे और मध्य] (पात्रेषु) रक्षा के आधार [लोकों] में वर्तमान (तम्) उस (सोमम्) सर्व प्रेरक [परमेश्वर] को (देवी) विजयिनी (वशा) [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (आ) सब प्रकार (अहरत्) स्वीकार किया। (यत्र) जहां [तीनों लोकों] में

धनानां स्वामी परमेश्वरः (आ) समन्तात् (क्षीरम्) जलम् (अहरत्) गृहीतवान् (वशे) म० २। हे कमनीये (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४। १५७। इदि परमैश्वर्ये-कमिन्, नलोपः । उदकम्-निघ० १। १२। (तत्) तदा (अद्य) अस्मिन् दिने (नाकः) क्लेशशून्यः। सुखस्वरूपः परमेश्वरः (त्रिषु) उच्चनीचमध्येषु (पात्रेषु) रक्षाधारेषु लोकेषु (रक्षति) पाति॥

१२—(त्रिषु) उच्चनीचमध्येषु (पात्रेषु) रक्षाधारेषु लोकेषु (सोमम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (आ) समन्तात् (देवी) विजयिनी (अहरत्) स्वीकृतवती (वशा) म० २। कमनीया परमात्मशक्तिः (अथर्वा) अ० ४। १। ७। अ+थर्व चरणे-वनिप् । निश्चलः परमेश्वरः (यत्र) त्रिषु लोकेषु (दीक्षितः) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् । पा० ५। २। ६। दीक्षा-इतच्।

(दीक्षितः) नियमवान् (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (हिरण्यये) तेजोमय (बर्हिषि) वृद्धि के बीच (आस्त) बैठा है ॥ १२ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग ईश्वर शक्ति को त्रिलोकवर्त्ती परमेश्वर के आधीन जानते हैं, जो तेजोमय सदा प्रवृद्ध स्वतन्त्र परमात्मा सब का स्वामी है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर और ईश्वर शक्ति में नित्य सम्बन्ध है ॥ १२ ॥

सं हि सोमे॑ना॒गत॒ समु॒ सर्वे॑ण प॒द्वता॑ । व॒शा स॑मु॒द्रमध्य॑ष्ठाद् ग॒न्ध॒र्वैः क॒लिभिः॑ स॒ह ॥ १३ ॥

सम् । हि । सोमे॑न । अ॒गत॑ । सम् । ऊं॒ इति॑ । सर्वे॑ण । प॒त्ऽव॑ता । व॒शा । स॒मु॒द्रम् । अधि॑ । अ॒स्था॒त् । ग॒न्ध॒र्वैः । क॒लिऽभिः॑ । स॒ह ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (हि) ही (सोमेन) ऐश्वर्य के साथ (उ) और (सर्वेण) प्रत्येक (पद्वता) पांव वाले [चलते फिरते पुरुषार्थी] के साथ (सम् सम् अगत्) निरन्तर संयुक्त हुई है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी धारण करने वाले और (कलिभिः सह) गणना करने वाले [गुणों] के साथ (समुद्रम्) अन्तरिक्ष की (अधि अस्थात्) अधिष्ठात्री हुई है ॥ १३ ॥

नियमवान् (बर्हिषि) वृद्धौ (आस्त) आस-लङ्। उपविष्टवान् (हिरण्यये) तेजोमये ॥

१३—(हि) निश्चयेन (सोमेन) ऐश्वर्येण (सम् सम् अगत) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । समो गमृच्छिप्रच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । आत्मने पदम् । मन्त्रे घसह्वरणश० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम० । पा० ६ । ४ । ३७ । अनुनासिकलोपः । निरन्तरं संगतवती (उ) च (सर्वेण) प्रत्येकेन (पद्वता) पदयुक्तेन । गतिशीलेन (वशा) म० २ (समुद्रम्) अन्तरिक्षम् (अध्यष्ठात्) अधिष्ठितवती (गन्धर्वैः) अ० २ । १ । २ । पृथिवीधारकैर्गुणैः (कलिभिः) सर्वधातुभ्यः इन् । उ० ४ । ११८ । कल गतौ संख्याने च । गणकैर्गुणैः (सह)॥

भावार्थ—प्रत्येक पुरुषार्थी जीव अपने पुरुषार्थ के अनुसार ईश्वरशक्ति से फल पाता है ॥ १३ ॥

सं हि वाते॒नाग॑त॒ समु॒ सर्वैः॑ पत॒त्रिभिः॑ ।

व॒शा स॑मु॒द्रे प्रानृ॑त्य॒दृच॒ः सामा॑नि॒ बिभ्र॑ती ॥ १४ ॥

सम् । हि । वाते॑न । अग॑त । सम् । ऊं॒ इति॑ । सर्वैः॑ । प॒त॒त्रिऽभिः॑ ॥ व॒शा । स॒मु॒द्रे । प्र । अ॒नृ॒त्य॒त् । ऋचः॑ । सामा॑नि । बिभ्र॑ती ॥ १४ ॥

भावार्थ—(ऋचः) स्तुति योग्य [वेद वाणियों] और (सामानि) मोक्ष ज्ञानों को (बिभ्रती) रखती हुई (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (हि) ही (वातेन) वायु से (उ) और (सर्वैः) सब (पतत्रिभिः) पक्षियों से (सम् सम् अगत) निरन्तर मिली है, और उसने (समुद्रे) अन्तरिक्ष में (प्र) अच्छे प्रकार (अनृत्यत्) अङ्ग फड़काये हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति ईश्वर वाणी को मानती हुई वायु, पक्षियों और सब लोकों को अन्तरिक्ष में चलाती हुई विराजमान है ॥ १४ ॥

सं हि सूर्ये॒णाग॑त॒ समु॒ सर्वे॑ण॒ चक्षु॑षा । व॒शा स॑मु॒द्रमत्य॑ख्यद्

भ॒द्रा ज्योती॑षि॒ बिभ्र॑ती ॥ १५ ॥

सम् । हि । सूर्ये॑ण । अग॑त । सम् । ऊं॒ इति॑ । सर्वे॑ण । चक्षु॑षा ॥ व॒शा । स॒मु॒द्रम् । अति॑ । अ॒ख्य॒त् । भ॒द्रा । ज्योती॑षि । बिभ्र॑ती १५

भावार्थ—(भद्रा) उत्तम (ज्योतींषि) ज्योतियों को (बिभ्रती) रखती हुई (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वरशक्ति] (हि) ही (सूर्येण)

१४—(वातेन) वायुना (सम् सम् अगत) म० १३ । निरन्तरं संगतवती (सर्वैः) समस्तैः (पतत्रिभिः) पक्षिभिः (समुद्रे) अन्तरिक्षे (प्र) प्रकर्षेण (अनृत्यत्) अङ्गानि विक्षिप्तवती (ऋचः) स्तुत्या वेदवाणीः (सामानि) अ० ७ । ५४ । १ । मोक्षज्ञानानि (बिभ्रती) धारयन्ती । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(सूर्येण) सूर्यमण्डलेन (चक्षुषा) दर्शनशक्त्या (अति) अत्यन्तम्

सूर्य के साथ (उ) और (सर्वेण) प्रत्येक (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (सम् सम् अगत) निरन्तर मिली है और उसने (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (अति) अत्यन्त करके (अख्यत्) प्रकाशित किया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ईश्वर की शक्ति से ही सूर्य में, और सूर्य द्वारा आंख में और अन्तरिक्ष के सब लोकों को प्रकाश पहुंचता है ॥ १५ ॥

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि । अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥ १६ ॥

अभि-वृता । हिरण्येन । यत् । अतिष्ठः । ऋत-वरि ॥ अश्वः । समुद्रः । भूत्वा । अधि । अस्कन्दत् । वशे । त्वा ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(ऋतावरि) हे सत्यशील ! (यत्) जब (हिरण्येन) तेज वा पराक्रम से (अभिवृता) घिरी हुई तू (अतिष्ठः) खड़ी हुई । (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (समुद्रः) [प्राणियोंके अच्छे प्रकार चलने का आधार] परमेश्वर (अश्वः) व्यापक (भूत्वा) होकर (त्वा) तुझ को (अधि) अधिकार पूर्वक (अस्कन्दत्) प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

भावार्थ - परमेश्वर अपनी शक्ति को अपने वश में रखकर यथा समय उसका प्रकाश करता है ॥ १६ ॥

तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १७ ॥

(अख्यत्) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च । प्रकाशितवती (भद्रा) श्रेष्ठानि (ज्योतींषि) प्रकाशान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(अभिवृता) वेष्टिता (हिरण्येन) तेजसा वीर्येण वा (यत्) यदा (अतिष्ठः) स्थितवती (ऋतावरि) म० ८ । सत्यशीले (अश्वः) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । अशू व्याप्तौ–कन् । व्यापकः (समुद्रः) समभिद्रवन्त्येनं भूतानि । समुद्र आदित्यः समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । सर्वभूतगमनाधारः परमात्मा (भूत्वा) (अधि) अधिकारपूर्वकम् (अस्कन्दत्) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः । प्राप्तवान् (वशे) (त्वा) ॥

तत् । भुद्राः । सम् । अगच्छन्त । वुशा । देष्ट्री । अथो इति । स्वधा ॥ अथर्वा । यत्र । दीक्षितः । बुर्हिषि । आस्त । हिरण्यये ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(तत्) वहां (भद्राः) श्रेष्ठ गुण (सम् अगच्छन्त) मिले हैं, और (देष्ट्री) शासन करने वाली (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (अथो) और (स्वधा) अन्न [मिले हैं] । (यत्र) जहां (दीक्षितः) नियमवान् (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (हिरण्यये) तेजोमय (बर्हिषि) वृद्धि के बीच (आस्त) बैठा है ॥ १७ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष अनन्त श्रेष्ठ गुणों और अन्न आदि को परमेश्वर की शक्ति के साथ पाकर परमात्मा की महिमा को ध्यान में रखते हैं ॥ १७ ॥

इस मन्त्र का दूसरा भाग—म० १२ में आचुका है ॥

वुशा मुाता राजुन्यस्य वुशा मुाता स्वधे तव । वुशायां युज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥ १८ ॥

वुशा । मुाता । राजुन्यस्य । वुशा । मुाता । स्वधे । तव ॥ वुशायाः । युज्ञे । आयुधम् । ततः । चित्तम् । अजायत ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (राजन्यस्य) शासन कर्ता की (माता) माता [निर्मात्री], और (स्वधे) हे अन्न ! (वशा) वशा (तव) तेरी (माता) माता [जननी] है । (यज्ञे) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म] में (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (आयुधम्) जीवन धारक कर्म है । (ततः) उससे (चित्तम्) चित्त [विचार सामर्थ्य] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

१७—(तत्) तत्र (भद्राः) शुभगुणाः (सम् अगच्छन्त) संगतवन्तः (देष्ट्री) आदेष्ट्री । शासिका (अथो) अपि च (स्वधा) अन्नम्—निघ० २ । ७ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १२ ॥

१८—(वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (माता) निर्मात्री (राजन्यस्य) अ० ५ । १७ । ६ । ऐश्वर्यवतः । शासकस्य (स्वधे) हे अन्न (वशायाः) परमेश्वरशक्तेः (यज्ञे) श्रेष्ठकर्मणि (आयुधम्) आयु+डु धाञ् धारणपोषणयोः—क । जीवनधारकं कर्म (ततः) तस्याः । वशायाः सकाशात् (चित्तम्) ज्ञानम् (अजायत) अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति के ज्ञान से मनुष्य को शासन शक्ति, अन्न प्राप्ति, जीवन धारण और विचार सामर्थ्य होता है ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि । ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वः । बिन्दुः । उत् । अचरत् । ब्रह्मणः । ककुदात् । अधि ॥ ततः । त्वम् । जज्ञिषे । वशे । ततः । होता । अजायत ॥१९॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वः) ऊंचा (बिन्दुः) बिन्दु [थोड़ा अंश] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमेश्वर] की (ककुदात्) प्रधानता से (अधि) अधिकार पूर्वक (उत् अचरत्) ऊंचा गया । (ततः) उससे (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वम्) तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुई थी, (ततः) और उसी से (होता) पुकारने वाला [यह जीवात्मा] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ १९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के बिन्दु अर्थात् थोड़े सामर्थ्य से संसार में यह दृश्यमान शक्ति और सब प्राणी प्रकट हैं ॥१९॥

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे । पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥ २० ॥ (३४)

आस्नः । ते । गाथाः । अभवन् । उष्णिहाभ्यः । बलम् । वशे ॥ पाजस्यात् । जज्ञे । यज्ञः । स्तनेभ्यः । रश्मयः । तव २०(३४)

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (ते) तेरे (आस्नः) मुख से (गाथाः) गाथायें [गाने योग्य वेदवाणियां] (अभवन्)

१९—(ऊर्ध्वः) उच्चस्थः (बिन्दुः) बिदि अवयवे—उ । अल्पांशः (उदचरत्) उदगच्छत् (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (ककुदात्) कस्य सुखस्य कुं भूमिं ददातीति, क+कु+दा–क । प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् । इत्यमरः २३ । ६२ । प्राधान्यात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (ततः) बिन्दुसकाशात् (त्वम्) (जज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ (वशे) (ततः) तस्माद् बिन्दोः (होता) आह्वाता जीवः (अजायत) ॥

२०—(आस्नः) मुखात् (ते) तव (गाथाः) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २।४। गै गाने–थन् । गाथा वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । गानयोग्या वेदवाण्यः

हुई हैं और (उष्णिहाभ्यः) उष्णियों [गले की हड्डियों] से (बलम्) बल [हुआ है]। (तव) तेरे (पाजस्यात्) उदर से (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (जज्ञे) उत्पन्न हुआ था, (स्तनेभ्यः) स्तनों [दूध के आधारों] से (रश्मयः) किरणें ॥ २० ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से ही वेदविद्यायें, बल, यज्ञ और प्रकाश उत्पन्न हुये हैं ॥ २० ॥

ई॒र्माभ्या॒मय॑नं जा॒तं सक्थि॒भ्यां च व॑शे॒ तव॑ । आ॒न्त्रेभ्यो॑ जज्ञिरे अ॒त्रा उ॒दरा॒दधि॑ वी॒रुधः॑ ॥ २१ ॥

ई॒र्माभ्या॑म् । अय॑नम् । जा॒तम् । सक्थि॒-भ्याम् । च॒ । व॒शे॒ । तव॑ ॥ आ॒न्त्रेभ्यः॑ । ज॒ज्ञि॒रे॒ । अ॒त्राः । उ॒दरा॑त् । अधि॑ । वी॒रुधः॑ ॥२१

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तव) तेरी (ईर्माभ्याम्) दोनों ईर्म [टांगों वा गोड़ों] से (च) और (सक्थिभ्याम्) दोनो जंघाओं से (अयनम्) सूर्य का दक्षिण और उत्तर मार्ग (जातम्) उत्पन्न हुआ है। (आन्त्रेभ्यः) आंतों से (अत्राः) भोजन पदार्थ और (उदरात्) पेट से (वीरुधः) विविध उगने वाली ओषधियां (अधि जज्ञिरे) उत्पन्न हुई थीं २१

भावार्थ—ईश्वर शक्ति से सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण मार्ग, जिनसे तीन तीन ऋतुयें बनती हैं, सब भोजन पदार्थ और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न हुये हैं ॥ २१ ॥

यदु॒दरं॒ वरु॑णस्यानु॒प्रावि॑शथा वशे । तत॑स्त्वा ब्र॒ह्मोद॑ह्वयत् स हि ने॒त्रमवे॒त् तव॑ ॥ २२ ॥

यत् । उ॒दर॑म् । वरु॑णस्य । अ॒नु॒-प्रावि॑शथाः । व॒शे॒ ॥ तत॑ः । त्वा॒ । ब्र॒ह्मा । उत् । अ॒ह्व॒य॒त् । सः । हि । ने॒त्रम् । अवे॑त् । तव॑२२

अभवन् (उष्णिहाभ्यः) अ० २ । ३३ । २ । ग्रीवानाडीभ्यः (बलम्) सामर्थ्यम् (पाजस्यात्) अ० ४ । १४ । ८ । उदरात् । अन्यत् सुगमम् ॥

२१—(ईर्माभ्याम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । ईर गतिकम्पनयोः—मक् । जङ्घाधोभागाभ्याम् (अयनम्) अय गतौ—ल्युट् । गतिः । दक्षिणत उत्तरस्याम्, उत्तरतश्च दक्षिणस्यां दिशि सूर्यस्य गतिः (सक्थिभ्याम्) अ० ६ । ६ । १ । जङ्घाभ्याम् (च) (वशे) (तव) (अत्राः) अ० ६ । ७ । १६ । अद भक्षणे—क्त्र । भोजनपदार्थाः । अन्यद् गतम्—अ० ६ । ७ । १६ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (यत्) जब [प्रलय में] (वरुणस्य) वरुण [सब के ढकने वाले परमेश्वर] के (उदरम्) पेट में (अनुप्रविशथाः) तू ने प्रवेश किया । (ततः) फिर [सृष्टिकाल में] (त्वा) तुझे (ब्रह्मा) ब्रह्मा [महाविद्वान् परमेश्वर] ने (उत् अह्वयत्) ऊपर बुलाया, (हि) क्योंकि (सः) उस ने (ते) तेरा (नेत्रम्) नायकपन (अवेत्) जाना था है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सर्वनेता परमेश्वर अपनी शक्ति को प्रलय समय में अपने भीतर लय और सृष्टि समय में संसार के भीतर प्रकट करता है ॥ २२ ॥

सर्वे॒ गर्भा॑दवेपन्त॒ जाय॑मानादसू॒स्वः॑ । स॒सूव॒ हि ताम॑ाहुर्व॒शेति॒ ब्रह्म॑भिः क्लृ॒प्तः स ह्य॑स्या॒ बन्धुः॑ ॥ २३ ॥

सर्वे॑ । गर्भा॑त् । अ॒वे॒प॒न्त॒ । जाय॑मानात् । अ॒सू॒स्वः॑ ॥ स॒सूव॑ । हि । ताम् । आ॒हुः॒ । व॒शा । इति॑ । ब्रह्म॑-भिः । क्लृ॒प्तः । सः । हि । अ॒स्याः॒ । बन्धुः॑ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब [ऋषि] (असूस्वः) सत्ता की उत्पन्न करने वाली [परमेश्वर शक्ति] के (जायमानात्) उत्पन्न होते हुये (गर्भात्) गर्भ [संसार] से (अवेपन्त) थरथराये । (हि) क्योंकि (ताम्) उस [शक्ति] को (आहुः) वे [ब्रह्मज्ञानी] बताते हैं कि—"(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (ससूव इति) उत्पन्न किया था," (हि) क्योंकि (ब्रह्मभिः)

२२—(यत्) यदा । प्रलये (उदरम्) जठरम् । स्वरूपम् (वरुणस्य) सर्वस्य वारकस्याच्छादकस्य परमेश्वरस्य (अनुप्रविशथाः) अनुक्रमेण प्रविष्टवती त्वम् (वशे) म० २ । हे कमनीये परमेश्वरशक्ते (ततः) तदुपरान्ते । सृष्टिकाले (ब्रह्मा) प्रवृद्धो महापण्डितः परमेश्वरः (उदह्वयत्) उत्कर्षेणाहूतवान् । प्रकटीकृतवान् (सः) ब्रह्मा (हि) यस्मात् (नेत्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । णीञ् प्रापणे-ष्ट्रन् । नयनम् । नेतृत्वम् (अवेत्) विद ज्ञाने-लङ् । अजानात् (तव) ॥

२३—(सर्वे) ऋषयः (गर्भात्) गर्भरूपात् संसारात् (अवेपन्त) कम्पितवन्तः (जायमानात्) उत्पद्यमानात् (असूस्वः) असू-स्वः । कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । अस सत्तायाम्-ऊ+षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-क्विप् । आङभावो यणादेशश्च । असुं सत्तां सृष्टिं सूयते सा असूसूस्तस्याः असूस्वाः । सत्तायाः सृष्टेः जनयित्र्याः परमेश्वरशक्तेः (ससूव) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-लिट् ।

वेदज्ञानों से (क्रतुः) समर्थ (सः) वह [परमेश्वर] (अस्याः) इस [शक्ति] का (बन्धुः) बन्धु [संबन्ध वाला] है ॥ २३ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग बड़ा आश्चर्य मानते हैं कि महाबली परमेश्वर की महाबलवती शक्ति है जिसने यह महान् संसार रचा है ॥ २३ ॥

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी । तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४ ॥

युधः । एकः । सम् । सृजति । यः । अस्याः । एकः । इत् । वशी ॥ तरांसि । यज्ञाः । अभवन् । तरसाम् । चक्षुः । अभवत् । वशा ॥ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(एकः) एक [परमेश्वर] (युधः) लड़ाकों [परस्पर विरोधी, सुख दुःख, अग्नि जल, सिंह बकरी, आदि] को (सम्) यथावत् (सृजति) उत्पन्न करता है, (यः) जो [परमेश्वर] (एकः इत्) एक ही (अस्याः) इस [शक्ति] का (वशी) वश करने वाला है। [परमेश्वर के] (तरांसि) पराक्रम (यज्ञाः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (अभवन्) हुये हैं, और (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तरसाम्) [उन] पराक्रमों की (चक्षुः) नेत्र (अभवत्) हुई है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी शक्ति और पराक्रम से समस्त संसार को रचकर सब की यथावत् सुधि रखता है ॥ २४ ॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् । वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

ससूवेति निगमे । पा० ७ । ४ । ७४ । इति परस्मैपदे रूपम् । सुषुवे । जनयांमास (हि) यस्मात् (ताम्) परमेश्वरशक्तिं प्रति (आहुः) कथयन्ति मनीषिणः (वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (ब्रह्मभिः) वेदज्ञानैः (क्रतुः) समर्थः (सः) परमेश्वरः (हि) यस्मात् (अस्याः) वशायाः (बन्धुः) सम्बन्धी ॥

२४—(युधः) योद्धारः । परस्परविरोधिनः (एकः) अद्वितीयः (सम्) सम्यक् (सृजति) जनयति (यः) परमेश्वरः (अस्याः) वशायाः (एकः) (इत्) एव (वशी) वशयिता । शासकः (तरांसि) बलानि—निघ० २ । ६ । पराक्रमाः (यज्ञाः) श्रेष्ठव्यवहाराः (अभवन्) (तरसाम्) बलानाम् (चक्षुः) दृष्टिः (अभवत्) (वशा) ॥

वशा । यज्ञम् । प्रति । अगृह्णात् । वशा । सूर्यम् । अधारयत् ॥
वशायाम् । अन्तः । अविशत् । ओदनः । ब्रह्मणा । सह ॥२५॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (यज्ञम्) यज्ञ [संगति योग्य संसार] को (प्रति अगृह्णात्) ग्रहण कर लिया है, (वशा) वशा ने (सूर्यम्) सूर्य को (अधारयत्) धारण किया है। (वशायाम् अन्तः) वशा के भीतर (ओदनः) सींचने वाले [मेघ] ने (ब्रह्मणा सह) अन्न के साथ (अविशत्) प्रवेश किया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही शक्ति में यह सब संसार सूर्य आदि लोकों और सब पालन साधनों सहित वर्तमान है ॥ २५ ॥

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते । वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥

वशाम् । एव । अमृतम् । आहुः । वशाम् । मृत्युम् । उप । आसते ॥ वशा । इदम् । सर्वम् । अभवत् । देवाः । मनुष्याः । असुराः । पितरः । ऋषयः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (एव) ही (अमृतम्) अमृत [अमरपन] (आहुः) वे [ऋषि] बताते हैं, (वशाम्) वशा को (मृत्युम्) मृत्यु [समान] (उप आसते) वे मानते हैं। (वशा) वशा (इदम् सर्वम्) इस सब में (अभवत्) व्यापक हुई है, और

२५—(वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (यज्ञम्) संगन्तव्यं संसारम् (प्रत्यगृह्णात्) प्रत्यक्षं स्वीकृतवती (वशा) (सूर्यम्) (अधारयत्) धृतवती (वशायाम्) परमेश्वरशक्तौ (अन्तः) मध्ये (अविशत्) प्रविष्टवान् (ओदनः) अ० ६ । ५ । १६ । सेचकः । मेघः—निघ० १ । १० । (ब्रह्मणा) अन्नेन—निघ० २ । ७ (सह) ॥

२६—(वशाम्) कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (एव) (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (वशाम्) (मृत्युम्) मरणम् । दुःखभोगम् (उपासते) मन्यन्ते । पूजयन्ति (वशा) (इदम्) दृश्यमानम् (सर्वम्) जगत् (अभवत्) भू प्राप्तौ । व्याप्नोत् (देवाः) विजयिनः (मनु-

(देवाः) देव [विजयी], (मनुष्याः) मनुष्य [मननशील], (असुराः) असुर [बुद्धिमान्], (पितरः) पितर [पालन करने वाले] और (ऋषयः) ऋषि [सूक्ष्म दर्शी लोग] [जो हैं उन सब में वह व्यापक हुई है] ॥ २६ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति से प्राणी अपने कर्मानुसार अमृत अर्थात् मोक्ष और मृत्यु अर्थात् बन्धन पाते हैं। वही ईश्वर शक्ति समस्त जगत् में व्यापक है, जितेन्द्रिय विचारशील पुरुष उस शक्ति का अनुभव करते हैं ॥ २६ ॥

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात्। तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

यः। एवम्। विद्यात्। सः। वशाम्। प्रति। गृह्णीयात् ॥ तथा। हि। यज्ञः। सर्व-पात्। दुहे। दात्रे। अनप-स्फुरन् २७

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसा (विद्यात्) जाने, (सः) वह (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (प्रति) प्रतीति से (गृह्णीयात्) ग्रहण करे। (हि) क्योंकि (तथा) उसी प्रकार से (सर्वपात्) पूर्ण स्थिति वाला (अनपस्फुरन्) निश्चल रहता हुआ (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (दात्रे) दाता को (दुहे) भरपूर रहता है ॥ २७॥

भावार्थ—जो मनुष्य दृढ़ निश्चय से ईश्वर शक्ति को साक्षात् करता है, उसको उत्तम कर्मों के अभ्यास से उत्तम फल मिलता रहता है ॥ २७ ॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि। तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥

तिस्रः। जिह्वाः। वरुणस्य। अन्तः। दीद्यति। आसनि ॥

ष्याः) मननशीलाः (असुराः) अ० १। १०। १। असुरत्वंप्रज्ञावत्त्वम्—निरु० १०। ३४। प्रज्ञावन्तः (पितरः) पालकाः (ऋषयः) सूक्ष्मदर्शिनः। ये तान् अभवत् व्याप्नोत्—इति शेषः ॥

२७—(यः) पुरुषः (एवम्) पूर्वोक्त यथा (विद्यात्) जानीयात् (सः) (वशाम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (गृह्णीयात्) स्वीकुर्यात् (तथा) तेन प्रकारेण (हि) यस्मात् कारणात् (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (सर्वपात्) पूर्णस्थितिः (दुहे) दुग्धे। दुह्यते। प्रपूर्यते (दात्रे) सुखदानशीलाय (अनपस्फुरन्) अ० ६। १। ७। स्फुर संचलने-शतृ। निश्चलन् ॥

तासा॑म् । या । मध्ये॑ । राज॑ति । सा । व॒शा । दुः॒-प्र॒ति॒ग्र॒हा ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(वरुणस्य) वरुण [श्रेष्ठ परमेश्वर] के (आसनि अन्तः) मुखके भीतर (तिस्रः) तीन [सत्त्व, रज और तम रूप] (जिह्वाः) जीभें (दीद्यति = ०-न्ति) चमकती हैं। (तासाम्) उन [जीभों] के (मध्ये) बीच में (या) जो (राजति) राज करती है, (सा) वह (दुष्प्रतिग्रहा) पाने में कठिन (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] है ॥ २८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के मुखरूप सृष्टि में सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण रूप तीन जिह्वा हैं। इन तीनों की अधिष्ठात्री विशाल परमेश्वर शक्ति है, जिस का प्रभाव समझना मनुष्य को बड़ा कठिन है ॥ २८ ॥

च॒तु॒र्धा रेतो॑ अभवद् व॒शायाः॑ । आप॒स्तुरी॑यम॒मृतं॒ तुरी॑यं य॒ज्ञ-स्तुरी॑यं प॒शव॒स्तुरी॑यम् ॥ २९ ॥

च॒तुः॒-धा । रेतः॑ । अ॒भ॒व॒त् । व॒शायाः॑ ॥ आपः॑ । तुरी॑यम् । अ॒मृत॑म् । तुरी॑यम् । य॒ज्ञः । तुरी॑यम् । प॒शवः॑ । तुरी॑यम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (रेतः) वीर्य [वा सामर्थ्य] (चतुर्धा) चार प्रकार पर (अभवत्) हुआ है। (आपः) व्यापक तन्मात्रायें (तुरीयम्) एक चौथाई, (अमृतम्) अमृत [अमरपन] (तुरीयम्) एक चौथाई, (यज्ञः) यज्ञ [संगति किया हुआ संसार] (तुरीयम्) एक चौथाई और (पशवः) दृष्टि वाले [सब प्राणी] (तुरीयम्) एक चौथाई खण्ड हैं ॥ २९ ॥

२८—(तिस्रः) सत्त्वरजस्तमोरूपाः (जिह्वाः) (वरुणस्य) वरणीयस्य श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (अन्तः) मध्ये (दीद्यति) दीद्यतिर्ज्वलतिकर्मा-निघ० १ । १६ । नैरुक्तो धातुः, दिवादित्वम् एक वचनं च छान्दसम् । दीद्यन्ति । दीप्यन्ते (आसनि) मुखे (तासाम्) जिह्वानाम् (या) (मध्ये) (राजति) ईष्टे । दीप्यते (सा) (वशा) म० २ (दुष्प्रतिग्रहा) दुःखेन ग्राह्या प्राप्तव्या ॥

२९—(चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण (रेतः) वीर्यम् । सामर्थ्यम् (अभवत्) आसीत् (वशायाः) कमनीयायाः परमेश्वरशक्तेः (आपः) व्यापिकास्तन्मात्राः—दयानन्दभाष्ये, यजुः २७ । २५ (तुरीयम्) चतुर्थं खण्डम् (अमृतम्) अमरणम् अविनाशः (यज्ञः) संगतिकरणव्यवहारः संसारः (पशवः) दृष्टिमन्तः प्राणिनः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति चार प्रकार से प्रकट है-एक सूक्ष्म तन्मात्राओं में, दूसरे उनके अमृत अर्थात् अविनाश में, तीसरे संगतिकरण व्यवहार अर्थात् पृथवीसूर्य आदि की रचना में, और चौथे चराचर प्राणियों की पालन पोषण क्रिया में ॥ २६ ॥

व॒शा द्यौर्व॒शा पृ॑थि॒वी व॒शा विष्णु॑: प्र॒जाप॑तिः। व॒शाया॑ दु॒ग्धम॑पिबन्त्सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये ॥ ३० ॥

व॒शा। द्यौः। व॒शा। पृ॒थि॒वी। व॒शा। विष्णु॑ः। प्र॒जा-प॑तिः॥ व॒शायाः॑। दु॒ग्धम्। अ॒पि॒ब॒न्। सा॒ध्याः। वस॑वः। च॒। ये ॥३०॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (द्यौः) आकाश में, (वशा) वशा (पृथिवी) पृथिवी में, (वशा) वशा (प्रजापतिः) प्रजापालक (विष्णुः) व्यापक सूर्य में है। (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] की (दुग्धम्) पूर्णता को (अपिबन्) उन्होंने पान किया है, (ये) जो (साध्याः) परोपकार साधने वाले [साधु] (च) और (वसवः) श्रेष्ठ स्वभाव वाले हैं ॥३०॥

भावार्थ—सर्वव्यापिनी परमेश्वरशक्ति के सुख दान का अनुभव करके परोपकारी ऋषि महात्मा लोग आनन्द पाते हैं ॥३०॥

व॒शाया॑ दु॒ग्धं पी॒त्वा सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये। ते वै ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॒ पयो॑ अ॒स्या उपा॑सते ॥ ३१ ॥

व॒शायाः॑। दु॒ग्धम्। पी॒त्वा। सा॒ध्याः। वस॑वः। च॒। ये ॥ ते। वै। ब्र॒ध्नस्य॑। वि॒ष्टपि॑। पयः॑। अ॒स्याः। उप॑। आ॒स॒ते ॥३१॥

३०—(वशा) म० २। कमनीया परमेश्वरशक्तिः (द्यौः) सुपां सुलुक्०। पा० ।७।१।३९। विभक्तेः सुः। दिवि। आकाशे (पृथिवी) पृथिव्याम् (विष्णुः) विष्णौ व्यापके सूर्ये। शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः निरु० ५।७ (प्रजापतिः) प्रजापालके (वशायाः) परमेश्वरशक्तेः (दुग्धम्) पूर्णत्वम् (अपिबन्) ते पीतवन्तः (साध्याः) अ० ७।५।१। परोपकारसाधकाः साधवः (वसवः) श्रेष्ठस्वभावयुक्ताः (च) (ये) ॥

भाषार्थ—(ये) जो लोग (साध्याः) परोपकार साधने वाले [साधु] (च) और (वसवः) श्रेष्ठ स्वभाव वाले हैं । (ते वै) वे ही (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] की (दुग्धम्) पूर्णता को (पीत्वा) पान करके (ब्रध्नस्य) नियन्ता [महान् परमेश्वर] के (विष्टपि) सहारे में (अस्याः) इस [परमेश्वर शक्ति] के (पयः) ज्ञान का (उप आसते) सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—परोपकारी साधु महात्मा परमेश्वर की सूक्ष्म शक्तियों के ध्यानसे अपना ज्ञान और बल बढ़ाकर सुखी होते हैं ॥ ३१ ॥

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते । य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२ ॥

सोमम् । एनाम् । एके । दुह्रे । घृतम् । एके । उप । आसते ॥ ये । एवम् । विदुषे । वशाम् । ददुः । ते । गताः । त्रि-दिवम् । दिवः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(एके) कोई कोई [महात्मा] (एनाम्) इससे (सोमम्) ऐश्वर्य को (दुह्रे) दुहते हैं , (एके) कोई कोई [इस के] (घृतम्) तत्त्वका (उप आसते) सेवन करते हैं । (ये) जिन्हों ने (एवम्) ऐसे (विदुषे) वि-

---

३१—(पीत्वा) अनुभूय (ते) (वै) एव (ब्रध्नस्य) अ० ७ । २२ । २ । बन्ध बन्धने-नक् , ब्रधादेशः । ब्रध्नो महन्नाम-निघ० ३।३। बन्धकस्य नियामकस्य महतः परमेश्वरस्य (विष्टपि) वि+ष्टभि प्रतिबन्धे-क्विप् भस्य पः । यद्वा, विटपविष्टपविशिपोलपाः । उ० ३ । १४५ । विश प्रवेशने-कपप्रत्ययः, तुडागमः, अन्त्याऽकारलोपः । विष्टपं साधारणनाम-निघ० १ । ४ । विष्टबादित्यो भवत्याविष्टो रसानाविष्टो भासं ज्योतिषामाविष्टो भासेति वाथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च—निरु० २ । १४ । विष्टम्भने । प्रवेशे । आश्रये (पयः) पय गतौ—असुन् । ज्ञानम् (अस्याः) वशायाः (उपासते) सेवन्ते । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३० ॥

३२—(सोमम्) ऐश्वर्यम् (एनाम्) वशाम् (एके) महात्मानः (दुह्रे) दुह प्रपूरणे-लट् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । रुडागमः । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः । दुहते । प्रपूरयन्ति (घृतम्) तत्त्वम् (एके) (उपा-

द्वान् को (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (ददुः) दान किया है, (ते) वे (दिवः) विजय के (त्रिदिवम्) तीन [आय, व्यय, वृद्धि] के व्यवहार स्थान में (गताः) पहुंचे हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग ईश्वर शक्ति के विचार से अपना ऐश्वर्य और और ज्ञान बढ़ाते और अन्य विद्वानों को उपदेश करके संसार में विजय सीमा तक पहुंचते हैं ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते । ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणेभ्यः । वशाम् । दत्त्वा । सर्वान् । लोकान् । सम् । अश्नुते ॥ ऋतम् । हि । अस्याम् । आर्पितम् । अपि । ब्रह्म । अथो इति । तपः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] को (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (दत्त्वा) दान करके (सर्वान् लोकान्) सब लोकों [दर्शनीय पदों] को [यह प्राणी] (सम्) ठीक ठीक (अश्नुते) पाता है। (हि) क्योंकि (अस्याम्) इस [परमेश्वर शक्ति] में (ऋतम्) सत्य व्यवहार (अपि) और (ब्रह्म) वेदज्ञान (अथो) और (तपः) तप [ऐश्वर्य] (आर्पितम्) स्थापित है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वर के सत्यज्ञान से दूसरे विद्वानों की उन्नति करके अनेक प्रकार अपनी उन्नति करते हैं ॥ ३३ ॥

सते) सेवन्ते (ये) विद्वांसः (एवम्) अनेन प्रकारेण (विदुषे) विदते-जानते पुरुषाय (वशाम्) म० २ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (ददुः) दत्तवन्तः (ते) विद्वांसः (गताः) प्राप्ताः (त्रिदिवम्) अ० १० । ६ । ५ । त्रयाणां दिवानामायव्ययवृद्धिव्यवहाराणां स्थानम् (दिवः) अ० १० । ६ । ५ । विजयस्य ॥

३३—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञानिभ्यः (वशाम्) म० २ (दत्त्वा) (सर्वान्) (लोकान्) दर्शनीयान् व्यवहारान (सम्) सम्यक् (अश्नुते) प्राप्नोति मनुष्यः (ऋतम्) सत्यव्यवहारः (हि) यस्मात् कारणात् (अस्याम्) वशायाम् (आर्पितम्) स्थापितम् (अपि) समुच्चये (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (अथो) अपि च (तपः) ऐश्वर्यम् ॥

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत । वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥ ३४ ॥ (३५)

वशाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । वशाम् । मनुष्याः । उत ॥ वशा । इदम् । सर्वम् । अभवत् । यावत् । सूर्यः । वि-पश्यति ॥ ३४ ॥ (३५)

भाषार्थ—(देवाः) देव [विजयी जन] (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] के, (उत) और (मनुष्याः) मनुष्य [मननशील लोग] (वशाम्) वशा के (उप जीवन्ति) आश्रय से जीते हैं । (वशा) वशा (इदम् सर्वम्) इस सब में (अभवत्) व्यापक हुई है, (यावत्) जितना कुछ (सूर्यः) सूर्य [सर्व प्रेरक परमात्मा] (विपश्यति) विविध प्रकार देखता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—परमात्मा की समस्त सृष्टि में उसकी शक्ति से सब पुरुषार्थी और विवेकी लोग बल प्राप्त करके आनन्दित रहते हैं ॥ ३४ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति दशमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमास परीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

कार्ये प्रयागनगरे श्रावणमासे अमावस्यायां तिथौ १९७४ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्री राजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-द्वितीय भाद्रपदकृष्णा १४ संवत् १९७४ ता० १५ सितम्बर १९१७ ॥

३४—(वशाम्) मन्त्र २ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (देवाः) विजयिनो जनाः (उप जीवन्ति) उपेत्य प्राणान् धारयन्ति (वशाम्) (मनुष्याः) मननशीलाः (उत) अपि (वशा) (इदम्) दृश्यमानम् (सर्वम्) जगत् (अभवत्) व्याप्नोत् (यावत्) यत्प्रमाणम् (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (वि-पश्यति) विविधमवलोकते ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १८१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्णकार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B.Sc., LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं; आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं; मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया; फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है.

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९०९।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९०९।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत प० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में······अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है; कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता०२७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा**, मु० एकडका पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१२।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में इस अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है, लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No.* 624 *dated 6th February* 1913.

.....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan. Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAAABAD,

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, persever ance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good; the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation. but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das-Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.